

Chapter इक्कीस

मनु-कर्म संवाद

विदुर उवाच

स्वायम्भुवस्य च मनोर्वंशः परमसम्मतः ।

कथ्यतां भगवन् यत्र मैथुनेनैधिरे प्रजाः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; स्वायम्भुवस्य—स्वायम्भुव का; च—तथा; मनोः—मनु का; वंशः—वंश; परम—सर्वाधिक; सम्मतः—आदरणीय; कथ्यताम्—कृपया कहिये; भगवन्—हे पूज्य ऋषि; यत्र—जिसमें; मैथुनेन—संभोग से; एधिरे—वृद्धि की; प्रजाः—सन्तति ने।

विदुर ने कहा—स्वायम्भुव मनु की वंश परम्परा अत्यन्त आदरणीय थी। हे पूज्य ऋषि, मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप इस वंश का वर्णन करें जिसकी सन्तति-वृद्धि संभोग के द्वारा हुई।

तात्पर्य : अच्छी सन्तान उत्पन्न करने के लिए नियंत्रित विषयी जीवन अपनाना चाहिए। वास्तव में विदुर ऐसे व्यक्तियों का इतिहास सुनने के लिए इच्छुक नहीं थे, जो विषयी जीवन बिता रहे हों; वे तो स्वायंभुव मनु की सन्तति के विषय में जानना चाहते थे, क्योंकि इस वंश में अनेक भक्त राजा हुए हैं, जिन्होंने अपनी प्रजा का पालन आत्मज्ञान के साथ एवं अत्यन्त सावधानीपूर्वक किया था। अतः उनके कार्यकलापों का इतिहास सुनकर मनुष्य अधिक प्रबुद्ध बन सकता है। इस प्रसंग में एक महत्त्वपूर्ण शब्द *परम-सम्मत* आया है, जिससे संकेत मिलता है कि स्वायंभुव मनु तथा उनके पुत्रों की संतति बड़े-बड़े अधिकारियों को स्वीकार्य थी। दूसरे शब्दों में, आदर्श सन्तान उत्पन्न करने के लिए विषयी जीवन की मान्यता सभी ऋषि तथा वैदिक धर्म ग्रंथों के अधिकारी देते हैं।

प्रियव्रतोत्तानपादौ सुतौ स्वायम्भुवस्य वै ।

यथाधर्मं जुगुपतुः सप्तद्वीपवतीं महीम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

प्रियव्रत—महाराज प्रियव्रत; उत्तानपादौ—तथा महाराज उत्तानपाद; सुतौ—दो पुत्र; स्वायम्भुवस्य—स्वायंभुव मनु के; वै—निस्सन्देह; यथा—के अनुसार; धर्मम्—धार्मिक नियम; जुगुपतुः—शासन किया; सप्त-द्वीप-वतीम्—सात द्वीपों वाली; महीम्—पृथ्वी, संसार पर।

स्वायम्भुव मनु के दो पुत्रों—प्रियव्रत तथा उत्तानपाद—ने धार्मिक नियमानुसार सप्त द्वीपों वाले इस संसार पर राज्य किया।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत ब्रह्माण्ड के विभिन्न भागों में शासन करने वाले महान् राजाओं का इतिहास भी है। इस श्लोक में स्वायंभुव के दो पुत्रों—प्रियव्रत तथा उत्तानपाद के नामों का उल्लेख है। उन्होंने इस पृथ्वी पर राज्य किया जो सात द्वीपों में विभक्त है। ये सातों द्वीप आज भी हैं—यथा एशिया, यूरोप, अफ्रीका, अमरीका, आस्ट्रेलिया तथा उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव। यद्यपि श्रीमद्भागवत में समस्त भारतीय राजाओं का तिथिवार इतिहास नहीं है, लेकिन महत्त्वपूर्ण राजाओं के कार्यों का, जैसे प्रियव्रत तथा उत्तानपाद और कई अन्यो का यथा भगवान् रामचन्द्र तथा महाराज युधिष्ठिर का लेखा-जोखा मिलता है, क्योंकि ऐसे पवित्र राजाओं के कार्य-कलाप सुनने योग्य हैं और मनुष्य उनके इतिहासों को पढ़कर लाभ उठा सकते हैं।

तस्य वै दुहिता ब्रह्मन्देवहूतीति विश्रुता ।

पत्नी प्रजापतेरुक्ता कर्दमस्य त्वयानघ ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उस मनु की; वै—निस्सन्देह; दुहिता—पुत्री; ब्रह्मन्—हे पवित्र ब्राह्मण; देवहूति—देवहूति नामक; इति—इस प्रकार; विश्रुता—प्रसिद्ध थी; पत्नी—सहधर्मिणी; प्रजापतेः—उत्पन्न जीवों के स्वामी की; उक्ता—कहा गया; कर्दमस्य—कर्दम मुनि का; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अनघ—हे पापविहीन पुरुष।

हे पवित्र ब्राह्मण, हे पापविहीन पुरुष, आपने उनकी पुत्री के विषय में कहा है कि वे प्रजापति ऋषि कर्दम की पत्नी देवहूति थीं।

तात्पर्य : यहाँ हम स्वायम्भुव मनु के विषय में चर्चा कर रहे हैं; किन्तु भगवद्गीता में वैवस्वत मनु का वर्णन है। आधुनिक युग वैवस्वत मनु से सम्बन्धित है। स्वायंभुव मनु इसके पूर्व राज्य कर रहे थे और उनका इतिहास वराह युग से अर्थात् जब भगवान् शूकर रूप में प्रकट हुए तब से प्रारम्भ होता है। ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होते हैं और प्रत्येक मनु के जीवन काल में कुछ विशिष्ट घटनाएँ घटती हैं। भगवद्गीता का वैवस्वत मनु स्वायंभुव मनु से सर्वथा भिन्न है।

तस्यां स वै महायोगी युक्तायां योगलक्षणैः ।

ससर्ज कतिधा वीर्यं तन्मे शुश्रूषवे वद ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उसमें; सः—कर्म मुनि; वै—निस्सन्देह; महा-योगी—परम योगी; युक्तायाम्—युक्त; योग-लक्षणैः—योगिक सिद्धि के आठ लक्षणों से; ससर्ज—आगे बढ़ाया; कतिधा—कितनी बार; वीर्यम्—सन्तान; तत्—वह आख्यान; मे—मुझको; शुश्रूषवे—सुनने का इच्छुक; वद—कहिये।

उस महायोगी ने, जिसे अष्टांग योग के सिद्धान्तों में सिद्धि प्राप्त थी, इस राजकुमारी से कितनी सन्तानें उत्पन्न कीं? कृपा करके आप मुझे यह बताएँ, क्योंकि मैं इसे सुनने का इच्छुक हूँ।

तात्पर्य : यहाँ पर विदुर ने कर्म मुनि तथा उनकी पत्नी देवहूति तथा उनकी सन्तति के विषय में जिज्ञासा की है। यहाँ यह बताया गया है कि देवहूति अष्टांग योग में परम निपुण थीं। योग-क्रिया के आठ अंग इस प्रकार हैं—(१) इन्द्रिय निग्रह, (२) विधि विधानों का कठोर पालन, (३) विभिन्न आसनों का अभ्यास, (४) श्वास का नियन्त्रण, (५) विषयों पर से इन्द्रियों को हटाना (६) मन की एकाग्रता, (७) ध्यान तथा (८) आत्म-साक्षात्कार। आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् भी आठ और सिद्धि-अवस्थाएँ होती हैं, जिन्हें योग सिद्धियाँ कहते हैं। पति-पत्नी दोनों योगाभ्यास में सिद्ध थे; पति महायोगी था और पत्नी योगलक्षण थी। उन दोनों ने सम्भोग द्वारा सन्तति उत्पन्न की। पुराकाल में, ऋषि तथा मुनि अपने जीवन को पूर्ण बनाने के पश्चात् ही सन्तान उत्पन्न करते थे अन्यथा वे ब्रह्मचर्य व्रत धारण करते थे। आत्म-साक्षात्कार तथा योग की सिद्धि के लिए ब्रह्मचर्य परमावश्यक है। वैदिक धर्मग्रंथों में कहीं भी यह संस्तुत नहीं किया गया कि अपनी इच्छा के अनुसार जैसा भी चाहे कोई इन्द्रिय-तृप्ति के लिए भोग करे और किसी दुष्ट को कुछ धन देकर महान् ध्यानी बन जाए।

रुचिर्यो भगवान्ब्रह्मन्दक्षो वा ब्रह्मणः सुतः ।

यथा ससर्ज भूतानि लब्ध्वा भार्या च मानवीम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

रुचिः—रुचि; यः—जो; भगवान्—पूज्य; ब्रह्मन्—हे साधु; दक्षः—दक्ष; वा—तथा; ब्रह्मणः—भगवान् ब्रह्मा का; सुतः—पुत्र; यथा—जिस प्रकार; ससर्ज—उत्पन्न किया; भूतानि—सन्तान; लब्ध्वा—पा करके; भार्याम्—अपनी पत्नियों के रूप में; च—तथा; मानवीम्—स्वायम्भुव मनु की कन्याएँ।

हे ऋषि, कृपा करके मुझे बताएँ कि ब्रह्मा के पुत्र दक्ष तथा रुचि ने स्वायंभुव मनु की अन्य दो कन्याओं को पत्नी रूप में प्राप्त करके किस प्रकार सन्तानें उत्पन्न कीं ?

तात्पर्य : वे महापुरुष जिन्होंने सृष्टि के प्रारम्भ में संतान वृद्धि में योगदान किया प्रजापति कहलाते हैं। ब्रह्मा भी प्रजापति कहलाते हैं ऐसे ही उनके कतिपय परवर्ती पुत्र भी। स्वायंभुव मनु भी प्रजापति हैं तथा ऐसे ही ब्रह्मा का दूसरा पुत्र दक्ष भी। स्वायंभुव मनु के दो कन्याएँ थीं—आकूति तथा प्रसूति। प्रजापति रुचि ने आकूति के साथ और दक्ष ने प्रसूति के साथ ब्याह किया। इन युग्मों तथा इनकी सन्तानों ने समग्र ब्रह्माण्ड को बसाने के लिए अनेक सन्तानें उत्पन्न कीं। विदुर का प्रश्न था, “उन्होंने प्रारम्भ में किस प्रकार सन्ततियाँ उत्पन्न कीं ?”

मैत्रेय उवाच

प्रजाः सृजेति भगवान्कर्दमो ब्रह्मणोदितः ।

सरस्वत्यां तपस्तेपे सहस्राणां समा दश ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; प्रजाः—सन्तानें; सृज—उत्पन्न करो; इति—इस प्रकार; भगवान्—पूज्य; कर्दमः—कर्दम मुनि; ब्रह्मणा—भगवान् ब्रह्मा द्वारा; उदितः—आदेशित; सरस्वत्याम्—सरस्वती नदी के तट पर; तपः—तपस्या; तेपे—अभ्यास किया; सहस्राणाम्—हजारों; समाः—वर्षों की; दश—दस।

महान् ऋषि मैत्रेय ने उत्तर दिया—भगवान् ब्रह्मा से लोकों में सन्तान उत्पन्न करने का आदेश पाकर पूज्य कर्दम मुनि ने सरस्वती नदी के तट पर दस हजार वर्षों तक तपस्या की।

तात्पर्य : यहाँ पर यह पता चलता है कि सिद्धि प्राप्त करने के पूर्व कर्दम मुनि ने दस हजार वर्षों तक योग में ध्यान धारण किया। इसी प्रकार हमें ज्ञात होता है कि बाल्मीकि मुनि ने भी सिद्धि प्राप्त करने के पूर्व साठ हजार वर्षों तक योग ध्यान का अभ्यास किया। अतः योगाभ्यास को सफलतापूर्वक वे ही सम्पन्न कर सकते हैं जिनका जीवन काफी दीर्घ, यथा एक लाख वर्ष तक हो। उसी स्थिति में योग में सिद्धि प्राप्त हो सकती है, अन्यथा वास्तविक सिद्धि मिलनी दुष्कर है। विधि-विधानों का पालन, इन्द्रियों का निग्रह तथा विभिन्न आसन करना—ये तो प्रारम्भिक अभ्यास मात्र हैं। हमारी समझ में नहीं आता कि मनुष्य इस निरर्थक योग पद्धति

से किस प्रकार आकर्षित हो सकते हैं जिसमें यह बताया जाता है कि प्रति दिन केवल पन्द्रह मिनट का ध्यान धरने से ईश्वर के साथ तादात्म्य सिद्धि प्राप्त हो सकती है। यह कलियुग धोखा देने तथा झगड़ने का युग है। वस्तुतः ऐसे महत्त्वहीन प्रस्तावों से योग-सिद्धि प्राप्त करना असम्भव है। उदाहरणार्थ, वैदिक साहित्य स्पष्ट रूप से तीन बार बलपूर्वक कहता है कि इस कलियुग में हरि के पवित्र नाम (हरेनाम) के अतिरिक्त *कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव*—कोई विकल्प नहीं, कोई विकल्प नहीं, कोई विकल्प नहीं।

ततः समाधियुक्तेन क्रियायोगेन कर्दमः ।

सम्प्रपेदे हरिं भक्त्या प्रपन्नवरदाशुषम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब, उस तप में; समाधि-युक्तेन—समाधि अवस्था में; क्रिया-योगेन—भक्तियोग अथवा पूजा से; कर्दमः—कर्दम मुनि ने; सम्प्रपेदे—सेवा की; हरिम्—श्रीभगवान् की; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; प्रपन्न—शरणागत जीवों को; वरदाशुषम्—समस्त वरों के प्रदाता।

समाधिकाल में कर्दम मुनि ने समाधि में अपनी भक्ति द्वारा शरणागतों को तुरंत समस्त वर देने वाले श्रीभगवान् की आराधना की।

तात्पर्य : यहाँ पर ध्यान की महत्ता का वर्णन है। कर्दम मुनि ने परम पुरुषोत्तम भगवान् हरि को प्रसन्न करने के लिए दस हजार वर्षों तक योग-ध्यान का अभ्यास किया। अतः कोई चाहे योग का अभ्यास करे या चिन्तन करे और ईश्वर की खोज करे, इन प्रयासों में भक्ति की प्रक्रिया मिश्रित की जानी चाहिए। बिना भक्ति के कुछ भी पूर्ण नहीं। सिद्धि तथा साक्षात्कार का लक्ष्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। *भगवद्गीता* के छठे अध्याय में यह स्पष्ट उल्लेख है कि जो कृष्णभावनामृत में निरन्तर संलग्न रहता है, वह सर्वोच्च योगी है। श्रीभगवान् हरि अपने शरणागत भक्तों की समस्त इच्छाओं को भी पूरा करते हैं। वास्तविक सफलता प्राप्त करने के लिए मनुष्य को श्रीभगवान् हरि या श्रीकृष्ण के चरणकमलों में समर्पण करना होता है। भक्ति अथवा कृष्णभावनामृत में लगे रहना प्रत्यक्ष विधि है और अन्य सभी विधियाँ संस्तुत किए जाने के बावजूद भी अप्रत्यक्ष हैं। इस कलिकाल में प्रत्यक्ष विधि अप्रत्यक्ष विधि से अधिक सहज है, क्योंकि मनुष्यों का जीवन-काल कम होता है, उनकी बुद्धि कमजोर है, वे गरीब हैं और

अनेक कठिनाइयों से ग्रस्त रहते हैं। अतः भगवान् चैतन्य ने जो सबसे बड़ा वरदान दिया, वह यह है कि अध्यात्मिक जीवन में सिद्धि प्राप्त करने के लिए ईश्वर के पवित्र नाम का कीर्तन ही पर्याप्त है।

सम्प्रपेदे हरिम् शब्दों का अर्थ है कि कर्दम मुनि ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हरि को अपनी भक्ति से उनके प्रकार से प्रसन्न किया। भक्ति को *क्रिया-योगेन* शब्द से भी व्यक्त किया गया है। कर्दम मुनि न केवल ध्यान करते थे, वरन् भक्ति में भी संलग्न रहते थे। चाहे योग हो या ध्यान मनुष्य को सिद्धि के लिए श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि के द्वारा भक्ति करनी होती है। स्मरण करना भी ध्यान है। किन्तु स्मरण किसका किया जाय? मनुष्य को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का स्मरण करना चाहिए। न केवल श्रीभगवान् का स्मरण करना चाहिए, वरन् भगवान् के कार्यों का श्रवण और उनकी महिमा का कीर्तन भी करना चाहिए। यह जानकारी प्रामाणिक धर्मग्रन्थों में मिलती है। दस हजार वर्षों तक विभिन्न प्रकार की भक्ति मय सेवा करने के बाद कर्दम मुनि को ध्यान में सिद्धि प्राप्त हुई, किन्तु इस कलियुग में ऐसा कर पाना सम्भव नहीं, क्योंकि मनुष्य अधिक से अधिक एक सौ वर्ष जीवित रह पाता है। इस समय ऐसा कौन होगा जो योग के अनेकानेक विधि-विधानों का कड़ाई से पालन कर सके? साथ ही, सिद्धि उन्हें ही प्राप्त होती है, जो समर्पित आत्माएँ हैं। जहाँ श्रीभगवान् के नाम का उल्लेख तक न हो वहाँ आत्मसमर्पण कैसा? और जहाँ श्रीभगवान् के नाम का ध्यान तक न हो वहाँ योग कैसा? दुर्भाग्यवश इस युग में, विशेषतया जो आसुरी प्रवृत्ति के लोग हैं, वे ठगे जाने में विश्वास करते हैं। अतः भगवान् ऐसे वंचकों (धोखा देने वालों) को भेजते हैं, जो उन्हें योग के नाम पर गुमराह करते हैं और उनके जीवन को निकम्मा बना देते हैं। अतः *भगवद्गीता* (१६.१७) में स्पष्ट उल्लेख है कि चालबाज लोग अवैध धन को संचित करके गर्व से फूल जाते हैं और किसी प्रामाणिक ग्रंथ का अनुसरण किये बिना योग का अभ्यास करते हैं। उन्हें इस धन का घमंड हो जाता है, जिसे उन्होंने निर्दोष व्यक्तियों से लूटा-खसोटा है और जो स्वयं धोखा खाना चाहते हैं।

तावत्प्रसन्नो भगवान्पुष्कराक्षः कृते युगे ।

दर्शयामास तं क्षत्तः शाब्दं ब्रह्म दधद्वपुः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तावत्—तब; प्रसन्नः—प्रसन्न होकर; भगवान्—श्रीभगवान् ने; पुष्कर-अक्षः—कमल के समान नेत्र वाले; कृते युगे—सत्ययुग में; दर्शयाम् आस—दिखलाया; तम्—कर्दम मुनि को; क्षत्तः—हे विदुर; शाब्दम्—जिसे वेदों के माध्यम से ही जाना जा सकता है; ब्रह्म—परम सत्य; दधत्—प्रकट करते हुए; वपुः—अपना दिव्य शरीर।

तब सत्ययुग में कमल-नयन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने प्रसन्न होकर कर्दम मुनि को अपने दिव्य रूप का दर्शन कराया, जिसे वेदों के माध्यम से ही जाना जा सकता है।

तात्पर्य : यहाँ पर दो बातें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम तो यह कि कर्दम मुनि ने सत्ययुग के प्रारम्भ में योगसिद्धि प्राप्त की जब मनुष्यों की आयु एक लाख वर्ष होती थी। कर्दम मुनि को सफलता मिलने के बाद भगवान् ने प्रसन्न होकर उन्हें अपने रूप का दर्शन दिया जो काल्पनिक न था। कभी-कभी निर्विशेषवादी सलाह देते हैं कि मनुष्य जिस रूप को चाहे अपने मन में धारण कर सकता है, किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है भगवान् ने कर्दम मुनि को जो रूप दिखलाया वह वैदिक साहित्य में वर्णित है। शाब्दं ब्रह्म का अर्थ है वैदिक साहित्य में भगवान् के रूपों का स्पष्ट उल्लेख है। कर्दम मुनि ने भगवान् के किसी काल्पनिक रूप की खोज नहीं की जैसाकि आजकल के धूर्त कहते हैं। उन्होंने भगवान् के नित्य, आनन्दमय तथा दिव्य रूप को साक्षात् देखा।

स तं विरजमर्काभं सितपद्मोत्पलस्रजम् ।

स्निग्धनीलालकव्रातवक्त्राब्जं विरजोऽम्बरम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह कर्दम मुनि; तम्—उसको; विरजम्—कल्मषहीन; अर्क-आभम्—सूर्य का सा तेज; सित—श्वेत; पद्म—कमल; उत्पल—कुमुदिनी की; स्रजम्—माला; स्निग्ध—चिकना; नील—श्याममिश्रित नीला; अलक—बालों के समूह की; व्रात—अधिकता; वक्त्र—मुख; अब्जम्—कमल-सदृश; विरजः—निर्मल; अम्बरम्—वस्त्र।

कर्दम मुनि ने भौतिक कल्मष से रहित, सूर्य के समान तेजमय, श्वेत कमलों तथा कुमुदिनियों की माला पहने श्रीभगवान् के नित्य रूप का दर्शन किया। भगवान् ने निर्मल पीला रेशमी वस्त्र धारण कर रखा था और उनका मुख-कमल घुँघराले नीले चिकने

बालों के गुच्छों से सुशोभित था।

किरीटिनं कुण्डलिनं शङ्खचक्रगदाधरम् ।

श्वेतोत्पलक्रीडनकं मनःस्पर्शस्मितेक्षणम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

किरीटिनम्—मुकुट धारण किये हुए; कुण्डलिनम्—कुण्डल पहने हुए; शङ्ख—शंख; चक्र—चक्र; गदा—गदा; धरम्—धारण किये; श्वेत—उज्वल; उत्पल—कुमुदिनी; क्रीडनकम्—खिलौना; मनः—हृदय; स्पर्श—स्पर्श; स्मित—हँसी; ईक्षणम्—तथा चितवन।

मुकुट तथा कुण्डलों से आभूषित श्रीभगवान् अपने तीन हाथों में अपने विशिष्ट शंख, चक्र तथा गदा और चौथे में श्वेत कुमुदिनी धारण किये हुए थे। उन्होंने प्रसन्न तथा हासयुक्त मुद्रा में समस्त भक्तों के चित्त को चुराने वाली चितवन से देखा।

विन्यस्तचरणाम्भोजमंसदेशे गरुत्मतः ।

दृष्ट्वा खेऽवस्थितं वक्षःश्रियं कौस्तुभकन्धरम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

विन्यस्त—रखे हुए; चरण-अम्भोजम्—चरणकमल; अंस-देशे—कंधों पर; गरुत्मतः—गरुड़ के; दृष्ट्वा—देखकर; खे—आकाश में; अवस्थितम्—खड़े हुए; वक्षः—अपनी छाती पर; श्रियम्—शुभ चिह्न (श्रीवत्स); कौस्तुभ—कौस्तुभमणि; कन्धरम्—गले में।

अपने वक्षस्थल पर सुनहरी रेखा धारण किये तथा अपने गले में प्रसिद्ध कौस्तुभमणि लटकाये हुए वे गरुड़ के कन्धों पर अपने चरण-कमल रखे हुए आकाश (वायु) में खड़े थे।

तात्पर्य : श्लोक ९-११ में भगवान् के जिस दिव्य, नित्य रूप का वर्णन किया गया है, वह प्रामाणिक वैदिक विवरणों से है। ये विवरण निश्चय ही कर्दम मुनि की कल्पनाएँ नहीं हैं। भगवान् के अलंकरण भौतिक बुद्धि के परे (अगम्य) हैं जिसको शंकराचार्य जैसे निर्विशेषवादियों ने भी स्वीकार किया है कि श्रीभगवान् के विविध रूप—उनका शरीर, उनका रूप, उनका वस्त्र, उनका उपदेश, उनके वचन—ये किसी भौतिक शक्ति की उपज नहीं हैं वरन् इनकी पुष्टि वैदिक साहित्य द्वारा हुई है। भगवान् नारायण को भौतिक सृष्टि से कुछ लेना देना नहीं है। योग-साधना के द्वारा कर्दम मुनि वास्तव में देख सके कि भगवान् क्या हैं। दस हजार

वर्षों तक योगाभ्यास के बाद भगवान् के काल्पनिक रूप का दर्शन करना कोई अर्थ नहीं रखता। अतः योग की सिद्धि का अन्त शून्यता या निर्विशेषता में नहीं है, बल्कि इसके विपरीत जब कोई वास्तव में भगवान् को उसके नित्य रूप में देखता है, तो योग की सिद्धि प्राप्त होती है। श्रीकृष्णभावनामृत की पद्धति में श्रीकृष्ण के स्वरूप को प्रत्यक्ष प्रस्तुत किया जाता है। वैदिक साहित्य *ब्रह्म-संहिता* में कृष्ण का स्वरूप प्रामाणिक रूप में मिलता है—उनका धाम चिन्तामणि पत्थर का बना है, जिसमें भगवान् एक गोपबाल के रूप में खेलते हैं और हजारों गोपियाँ उनकी सेवा में तत्पर रहती हैं। ये वर्णन प्रामाणिक हैं और कृष्णभावनाभावित पुरुष इनको प्रत्यक्ष रूप में ग्रहण करता है, उन्हीं के अनुसार कार्य करता है, उनका उपदेश देता है और अधिकृत शास्त्रों में वर्णन किए गए ढंग से भक्तियोग का अभ्यास करता है।

जातहर्षोऽपतन्मूर्धा क्षितौ लब्धमनोरथः ।

गीर्भिस्त्वभ्यगृणात्प्रीतिस्वभावात्मा कृताञ्जलिः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

जात-हर्षः—स्वाभाविक रूप से प्रमुदित; अपतत्—गिर पड़ा; मूर्धा—अपने सिर के बल; क्षितौ—पृथ्वी पर; लब्ध—प्राप्त हुआ; मनः-रथः—अपनी इच्छा; गीर्भिः—स्तुतियों से; तु—तथा; अभ्यगृणात्—प्रसन्न किया; प्रीति-स्वभाव-आत्मा—जिनका हृदय स्वभाव से प्रेम पूर्ण है; कृत-अञ्जलिः—हाथ जोड़कर।

जब कर्दम मुनि ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का साक्षात् दर्शन किया, तो वे अत्यधिक तुष्ट हुए, क्योंकि उनकी दिव्य इच्छा पूर्ण हुई थी। वे भगवान् के चरण-कमलों को नमस्कार करने के लिए नतमस्तक होकर पृथ्वी पर लेट गये। उनका हृदय स्वभाविक रूप में भगवत्प्रेम से पूरित था। उन्होंने हाथ जोड़कर स्तुतियों द्वारा भगवान् को तुष्ट किया।

तात्पर्य : भगवान् के साकार रूप का साक्षात्कार योग की सर्वोच्च सिद्धि अवस्था मानी जाती है। *भगवद्गीता* के षष्ठम अध्याय में, जहाँ योग-साधना का वर्णन है, भगवान् के इस साकार रूप के दर्शन को योग की सिद्धि बतलाया गया है। आसनों तथा अन्य अनुष्ठानों का अभ्यास कर लेने के बाद अन्त में समाधि-अवस्था प्राप्त होती है। इस समाधि-अवस्था में श्रीभगवान् के अंश रूप परमात्मा का या फिर उनके यावत् रूप का दर्शन होता है। प्रामाणिक

योग धर्मग्रंथों में यथा पतञ्जलि-सूत्र में समाधि को दिव्य आनन्द कहा गया है। पतञ्जलि के ग्रंथों में योग की जो पद्धति वर्णित है, वह प्रामाणिक है और आधुनिक तथाकथित योगियों ने अधिकारी विद्वानों के ग्रंथों को देखे बिना अपनी-अपनी विधियाँ बना ली हैं, जो अत्यन्त रोचक हैं। पतञ्जलि योग पद्धति को अष्टांग योग कहा जाता है। कभी-कभी निर्विशेषवादी पतञ्जलि योग को दूषित कर देते हैं, क्योंकि वे अद्वैतवादी हैं। पतञ्जलि ने बताया है कि जब आत्मा परमात्मा से मिलता है और उसे देखता है, तो उसे दिव्य सुख मिलता है। यदि परमात्मा तथा व्यष्टि (व्यक्ति) के अस्तित्व को मान लिया जाय तो निर्विशेषवादियों का अद्वैतवाद-सिद्धान्त अपने आप ध्वस्त हो जाता है, फलतः कुछ निर्विशेषवादी तथा शून्यवादी दार्शनिक पतञ्जलि विधि को तोड़-मरोड़ कर पूरी योग-प्रक्रिया को दूषित कर देते हैं।

पतञ्जलि के अनुसार जब मनुष्य समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त हो जाता है, तो उसे वास्तविक दिव्य पद प्राप्त होता है और उस अवस्था की प्राप्ति को आध्यात्मिक शक्ति कहते हैं। भौतिक कार्यों में मनुष्य प्रकृति के गुणों को व्यवहार में लाता है। ऐसे व्यक्तियों की महत्त्वाकांक्षाएँ इस प्रकार हैं—(१) धार्मिक बनना, (२) आर्थिक रूप से समृद्ध होना, (३) इन्द्रियों की तुष्टि; तथा (४) परमेश्वर के साथ तादात्म्य। अद्वैतवादियों के अनुसार जब योगी ब्रह्म के साथ तदाकार प्राप्त कर लेता है और अपना व्यष्टि अस्तित्व खो देता है, तो उसे कैवल्य कहेजाने वाले परम पद की प्राप्ति होती है। किन्तु वस्तुतः पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के साक्षात्कार की अवस्था ही कैवल्य है। यह समझ लेना कि परमेश्वर पूर्णतया आध्यात्मिक है और पूर्ण आत्मबोध की अवस्था में श्रीभगवान् को समझा जा सकता है कैवल्य कहलाता है— अथवा पतञ्जलि की भाषा में इसी को आत्मशक्ति का साक्षात्कार कहते हैं। उनके अनुसार जब मनुष्य भौतिक कामनाओं से मुक्त होकर आत्मा तथा परमात्मा के आत्मबोध में स्थिर हो जाता है, तो उसे चित्-शक्ति कहते हैं। पूर्ण आत्मबोध होने पर आत्मसुख का बोध होने लगता है, जिसे भगवद्गीता में परम सुख कहा गया है और जो भौतिक इन्द्रियों के परे है। समाधि दो प्रकार की बताई गई है—सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात अर्थात् मानसिक चिन्तन तथा आत्मबोध।

असम्प्रज्ञात अथवा समाधि में मनुष्य अपनी आध्यात्मिक इन्द्रियों द्वारा भगवान् के आत्मरूप का साक्षात्कार कर सकता है। आत्म-साक्षात्कार का यही अनन्तिम उद्देश्य है।

पतञ्जलि के अनुसार जब मनुष्य ईश्वर के परम रूप का निरन्तर साक्षात्कार करता रहता है, तो उसे सिद्धावस्था प्राप्त हो जाती है जैसी कि कर्दममुनि को प्राप्त हुई थी। जब तक योगपद्धति की सामान्य सिद्धावस्था के परे किसी को यह सिद्धावस्था प्राप्त नहीं हो जाती तब तक परम साक्षात्कार नहीं होता। अष्टांग योगपद्धति में आठ सिद्धियाँ होती हैं। इन सिद्धियों को प्राप्त करने पर मनुष्य हल्के से हल्का और भारी से भारी हो सकता है और जो भी चाहे प्राप्त कर सकता है। किन्तु योग में ऐसी भौतिक सफलताएँ प्राप्त कर लेना न तो सिद्धि है न परम साध्य। परम साध्य तो यहाँ पर वर्णित है कि कर्दम मुनि ने परम पुरुषोत्तम भगवान् को उनके नित्य रूप में देखा। भक्ति का शुभारम्भ व्यष्टि आत्मा तथा परमात्मा या श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण के भक्तों के साथ सम्बन्ध होने पर होता है और इसे प्राप्त कर लेने पर च्युत होने का कोई प्रश्न नहीं उठता। यदि कोई योग-पद्धति से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का साक्षात् दर्शन करना चाहता है, किन्तु उसके साथ ही वह अन्य भौतिक शक्ति प्राप्त करने की इच्छा करता है, तो उसकी प्रगति रुक जाती है। दिव्य आत्मसुख के बोध से भौतिक सुख का कोई वास्ता नहीं, जिसको आडम्बरपूर्ण योगी प्रोत्साहन देते हैं। भक्तियोग के वास्तविक भक्त अपने जीवन-निर्वाह मात्र के लिए आवश्यक भौतिक वस्तुओं को ही स्वीकार करते हैं, वे अतिशयोक्तिपूर्ण भौतिक इन्द्रिय-तुष्टि से सर्वथा दूर रहते हैं। श्रीभगवान् के साक्षात्कार की दिशा में प्रगति के लिए वे सभी प्रकार के कष्टों को सहने के लिए उद्यत रहते हैं।

ऋषिरुवाच

जुष्टं बताद्याखिलसत्त्वराशेः

सांसिद्ध्यमक्ष्णोस्तव दर्शनान्नः ।

यद्दर्शनं जन्मभिरीड्य सद्भि-

राशासते योगिनो रूढयोगाः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

ऋषिः उवाच—ऋषि ने कहा; जुष्टम्—प्राप्त किया जाता है; बत—आह; अद्य—अब; अखिल—सभी; सत्त्व—सद्गुण का; राशेः—जो आगार है; सांसिद्धयम्—पूर्ण सफलता; अक्षयोः—दोनों नेत्रों का; तव—तुम्हारे; दर्शनात्—दर्शन से; नः—हमारे द्वारा; यत्—जिसका; दर्शनम्—दर्शन; जन्मभिः—जन्म के द्वारा; ईड्य—हे पूज्य स्वामी; सिद्धिः—क्रमशः पद को प्राप्त; आशासते—महत्त्वाकांक्षा रखते हैं; योगिनः—योगी; रूढ-योगाः—योग में सिद्धिप्राप्त।

कर्दम मुनि ने कहा—हे परम पूज्य भगवान्, समस्त अस्तित्वों के आगार आपका दर्शन प्राप्त करके मेरी दर्शन की साध पूरी हो गई। महान् योगीजन बारम्बार जन्म लेकर गहन ध्यान में आपके दिव्य रूप का दर्शन करने की आकांक्षा करते रहते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर श्रीभगवान् को समस्त सद्गुणों एवं समस्त आनन्द का आगार कहा गया है। जब तक सत्त्वगुण को प्राप्त नहीं हो लिया जाता तब तक वास्तविक आनन्द नहीं मिलता। अतः जब कोई मनसा-वाचा-कर्मणा भगवान् की सेवा करता है, तो उसे सत्त्व की परम सिद्धि-अवस्था प्राप्त होती है। कर्दम मुनि कहते हैं, “आप सद्गुणों (सत्त्व) के नाम से ज्ञात समस्त वस्तुओं के आगार हैं और अब आपको अपने नेत्रों के सम्मुख देखकर दर्शन की सिद्धि प्राप्त हुई है।” ऐसे कथन विशुद्ध भक्तिपरक हैं, भक्त के लिए इन्द्रियों की सार्थकता भगवान् की सेवा करने में है। आँखों की सार्थकता भगवान् के सौन्दर्य अवलोकन में है, श्रवणेन्द्रिय की सार्थकता प्रभु के गुणगान सुनने में, जीभ की सार्थकता प्रसाद का स्वाद पाने में है। जब समस्त इन्द्रियाँ भगवान् की सेवा में लगी रहती हैं, तो इस प्रकार की सिद्धि भक्तियोग कहलाती है, जिसका अर्थ होता है भौतिकता में लिप्त इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाना। जब मनुष्य सभी प्रकार के उपाधिमय बद्धजीवन से मुक्त होकर भगवान् की सेवा में अपने को पूर्णरूपेण अनुरक्त करता है, तो उसकी सेवा भक्तियोग कहलाती है, जिसका अर्थ होता है भौतिकता में लिप्त इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाना। कर्दम मुनि स्वीकार करते हैं कि भक्तियोग में स्वयं भगवान् का दर्शन पाना दर्शन की सार्थकता (सिद्धि) है। कर्दम मुनि ने दर्शन की महान् सिद्धि को बढ़ा-चढ़ा कर नहीं कहा है। वे इसका प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि जो वास्तव में योग में उन्नत हैं, वे जन्म-जन्मान्तर श्रीभगवान् के इस रूप का दर्शन करना चाहते हैं। वे कोई बनावटी योगी न थे। जो वास्तव में महान् हैं, वे भगवान् के नित्य रूप के दर्शन की ही कामना करते हैं।

ये मायया ते हतमेधसस्त्वत्-
 पादारविन्दं भवसिन्धुपोतम् ।
 उपासते कामलवाय तेषां
 रासीश कामान्निरयेऽपि ये स्युः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

ये—जो व्यक्ति; मायया—छलने वाली शक्ति से; ते—तुम्हारा; हत—भ्रष्ट; मेधसः—जिनकी बुद्धि; त्वत्—तुम्हारा; पाद-अरविन्दम्—चरणकमल; भव—संसार का; सिन्धु—सागर; पोतम्—पार करने की नाव; उपासते—पूजा करते हैं; काम-लवाय—क्षुद्र सुखों के लिए; तेषाम्—उनकी; रासि—देते हो; ईश—हे ईश्वर; कामान्—इच्छाएँ; निरये—नरक में; अपि—भी; ये—जो इच्छा करते हैं; स्युः—प्राप्त हो सकती हैं।

आपके चरण-कमल सांसारिक अज्ञान के सागर को पार करने के लिए सच्चे पोत (नाव) के तुल्य हैं। माया के वशीभूत केवल अज्ञानी पुरुष ही इन चरणों की पूजा इन्द्रियों के क्षुद्र तथा क्षणिक सुख की प्राप्ति हेतु करते हैं जिनकी प्राप्ति नरक में सड़ने वाले व्यक्ति भी कर सकते हैं। तो भी, हे भगवान्, आप इतने दयालु हैं कि उन पर भी आप अनुग्रह करते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* के सप्तम अध्याय में कहा गया है, भक्तों की दो कोटियाँ हैं—पहले वे जो भौतिक सुख चाहते हैं और दूसरे वे जो ईश्वर की सेवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं सोचते। भौतिक सुख तो कूकर तथा शूकर भी प्राप्त कर सकते हैं जिनका जीवन अत्यन्त नारकीय होता है। शूकर भी खाता, सोता और संभोग का पूरा आनन्द उठाता है और इस संसार के ऐसे नारकीय सुख से अत्यन्त प्रसन्न रहता है। आधुनिक योगी उपदेश देता है कि चूँकि मनुष्य के इन्द्रियाँ हैं, अतः उसे भी कुत्ते तथा बिल्लियों की भाँति उनका पूरा उपयोग करना चाहिए और साथ ही योग का अभ्यास भी करना चाहिए। यहाँ पर कर्दम मुनि ने इसकी निन्दा की है। वे कहते हैं कि ऐसे भौतिक सुख नारकीय जीवन बिताने वाले कुत्तों तथा बिल्लियों के लिए हैं। भगवान् इतने दयालु हैं कि यदि तथाकथित योगी इन नारकीय सुखों से तृप्त हो जाते हैं, तो वे उन्हें उन समस्त भौतिक सुखों को इच्छानुसार प्राप्त करने की छूट देते हैं, किन्तु उन्हें कर्दम मुनि के समान सिद्ध अवस्था नहीं मिल सकती।

वास्तविकता तो यह है कि नारकीय तथा आसुरी लोग यह जानते ही नहीं कि सिद्धि का

परम साध्य क्या है, फलतः वे इन्द्रियतृप्ति को ही जीवन का उच्चतम लक्ष्य मान बैठते हैं। वे यह उपदेश देने लगते हैं कि इन्द्रियतृप्ति के साथ ही वे कुछ मन्त्र सुनाकर और कुछ आसन करके सिद्धि की कामना कर सकते हैं। ऐसे व्यक्तियों को यहाँ पर *हत-मेधसः* कहा गया है, अर्थात् “जिनके दिमाग खराब हो चुके हैं।” ऐसे लोग योगसिद्धि या ध्यान के द्वारा भौतिक सुख की कामना करते हैं। भगवान् ने *भगवद्गीता* में कहा है कि जो देवताओं की पूजा करते हैं उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो चुकी होती है। इसी प्रकार यहाँ भी कर्दम मुनि कहते हैं कि जो योगाभ्यास के द्वारा भौतिक सुख की कामना करता है, समझ लो, उसकी बुद्धि बिगड़ चुकी है और वह महामूर्ख है। वस्तुतः योग के उत्तम अभ्यासकर्ता को श्रीभगवान् की पूजा करके अज्ञान के सागर को पार करने और भगवान् के चरणकमलों के दर्शन प्राप्त करने के अतिरिक्त और कोई भी कामना नहीं करनी चाहिए। किन्तु ईश्वर ऐसे दयालु हैं कि ऐसे बुद्धिभ्रष्ट लोगों को वे आज भी कुत्ता, बिल्ली, शूकर बनाकर सम्भोग तथा इन्द्रियतृप्ति द्वारा सुख उठाने का वर देते हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् ने इस वरदान की पुष्टि की है, “जब भी कोई मनुष्य मुझसे कुछ प्राप्त करना चाहता है, तो मैं उसको मनवांछित वर देता हूँ।”

तथा स चाहं परिवोदुकामः

समानशीलां गृहमेधधेनुम् ।

उपेयिवान्मूलमशेषमूलं

दुराशयः कामदुघाङ्घ्रिपस्य ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तथा—उसी प्रकार से; सः—मैं स्वयं; च—भी; अहम्—मैं; परिवोदु-कामः—ब्याह करने की इच्छा से; समान-शीलाम्—अनुरूप चरित्र वाली कन्या; गृह-मेध—विवाहित जीवन में; धेनुम्—कामधेनु; उपेयिवान्—पास आया हुआ; मूलम्—जड़ (चरणकमल); अशेष—प्रत्येक वस्तु का; मूलम्—स्रोत; दुराशयः—कामेच्छा से; काम-दुघ—समस्त इच्छाओं को प्रदान करने वाला; अङ्घ्रिपस्य—वृक्ष सदृश आपका।

अतः मैं भी ऐसी समान स्वभाव वाली कन्या से विवाह करने की इच्छा लेकर आपके चरणकमलों की शरण में आया हूँ, जो मेरे विवाहित जीवन में मेरी कामेच्छाओं को पूरा करने में कामधेनु के समान सिद्ध हो सके। आपके चरण प्रत्येक वस्तु के देने वाले हैं, क्योंकि आप कल्पवृक्ष के समान हैं।

तात्पर्य : यद्यपि कर्दम मुनि ऐसे व्यक्तियों की निन्दा करते हैं, जो भौतिक लाभों के लिए भगवान् के पास जाते हैं, किन्तु उन्होंने भगवान् के समक्ष अपनी भौतिक असमर्थता तथा आकांक्षा प्रकट करते हुए कहा, “यद्यपि मुझे पता है कि आपसे कोई भी भौतिक वस्तु नहीं माँगनी चाहिए, किन्तु तो भी मेरी इच्छा है कि मैं समान शीलवती कन्या से विवाह करूँ।” यहाँ *समानशीलम्* पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन काल में समान स्वभाव वाले लड़के तथा लड़कियों का विवाह होता था; समान स्वभाव वाले लड़के लड़कियों को इसलिए बन्धन-सूत्र में जोड़ा जाता था जिससे वे सुखी रहें। पच्चीस वर्ष से अधिक नहीं बीते होंगे और सम्भवतः आज भी, भारत में लड़की-लड़कों के माता-पिता उनकी कुण्डलियाँ यह जानने के लिए दिखवाते थे कि उनकी मनोदशाओं का वास्तविक योग हो सकता है या नहीं। ऐसे विचार महत्त्वपूर्ण हैं। आजकल ऐसा विचार किये बिना ब्याह होने लगे हैं, फलतः विवाह के तुरन्त बाद तलाक तथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। पहले के समय में पति तथा पत्नी आजीवन सुखपूर्वक जीवन बिताते थे, किन्तु आजकल यह अत्यन्त कठिन हो गया है।

कर्दम समान शील की पत्नी चाहते थे, क्योंकि आध्यात्मिक तथा सांसारिक उन्नति में सहायता पहुँचाने के लिए पत्नी आवश्यक है। कहा गया है कि पत्नी धर्म, अर्थ तथा काम (इन्द्रियतृप्ति) सम्बन्धी समस्त इच्छाओं की पूर्ति करती है। जिसे अच्छी पत्नी मिल जाती है, वह परम भाग्यशाली समझा जाता है। फलित ज्योतिष के अनुसार भाग्यवान पुरुष वह माना जाता है, जिसके पास परम सम्पत्ति हो, अच्छे पुत्र या श्रेष्ठ पत्नी हो। इन तीनों में से जिसके पास श्रेष्ठ पत्नी हो वह परम भाग्यशाली है। विवाह के पूर्व स्त्री का चुनाव समान शील के आधार पर करना चाहिए, इन्द्रियतृप्ति के हेतु तथाकथित शारीरिक सौन्दर्य या हाव-भाव से नहीं। *भागवत* के द्वादश स्कंध में कहा गया है कि कलियुग में विषयी जीवन के आधार पर विवाह होंगे और ज्योंही विषयी जीवन में कोई कमी आई नहीं कि तलाक का प्रश्न उठ खड़ा होगा।

कर्दम मुनि इस वरदान को उमा से प्राप्त कर सकते थे, क्योंकि शास्त्रों में कहा गया है कि

उत्तम पत्नी की कामना करने वालों को उमा की पूजा करनी चाहिए। किन्तु कर्दम ने श्रीभगवान् की पूजा करना श्रेयस्कर समझा, क्योंकि *भागवत* में संस्तुति की गई है कि चाहे कोई सकाम हो या निष्काम अथवा मुक्तिकामी, उसे परमेश्वर की पूजा करनी चाहिए। मनुष्यों की इन तीन कोटियों में से प्रथम कोटि के पुरुष भौतिक इच्छाओं की पूर्ति से प्रसन्न होते हैं, दूसरी कोटि के लोग परमेश्वर का तादात्म्य चाहते हैं और तीसरी कोटि के पुरुष पूर्ण मानव हैं, जो भक्त होते हैं। वे बदले में भगवान् से कुछ भी नहीं चाहते, वे तो केवल दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहना चाहते हैं। प्रत्येक दशा में श्रीभगवान् की पूजा करनी चाहिए, क्योंकि वे सबों के मनोरथ को पूरा करने वाले हैं। परमेश्वर की पूजा का लाभ यह है कि यदि किसी के हृदय में भौतिक सुख की कामना रहती भी है, तो श्रीकृष्ण की पूजा करने पर वह धीरे-धीरे शुद्ध भक्त बन जाता है और उसे किसी भौतिक लाभ की इच्छा नहीं रह जाती।

प्रजापतेस्ते वचसाधीश तन्त्या

लोकः किलायं कामहतोऽनुबद्धः ।

अहं च लोकानुगतो वहामि

बलिं च शुक्लानिमिषाय तुभ्यम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

प्रजापते:—जो समस्त जीवात्माओं के स्वामी हैं; ते—तुम्हारे; वचसा—निर्देश से; अधीश—हे भगवान्; तन्त्या—डोरी से; लोकः—बद्धजीव; किल—निस्सन्देह; अयम्—ये; काम-हतः—काम वासनाओं से विजित; अनुबद्धः—बँधे हुए; अहम्—मैं; च—तथा; लोक-अनुगतः—बद्धजीवों का अनुसरण करता; वहामि—प्रदान करता हूँ; बलिम्—बलि, भेंट; च—तथा; शुक्ल—हे धर्मरूप; अनिमिषाय—शाश्वत समय के रूप में रहकर; तुभ्यम्—तुम्हें।

हे भगवान्, आप समस्त जीवात्माओं के स्वामी तथा नायक हैं। आपके आदेश से सभी बद्धजीव मानो डोरी से बँधकर अपनी-अपनी इच्छाओं की तुष्टि में निरन्तर लगे रहते हैं। उन्हीं का अनुसरण करते हुए, हे धर्ममूर्ते, शाश्वत काल रूप आपको मैं भी अपनी आहुति (बलि) अर्पण करता हूँ।

तात्पर्य : *कठ उपनिषद्* में कहा गया है कि परमेश्वर समस्त जीवात्माओं के नायक हैं। वे उनके पालक और समस्त आवश्यकताओं तथा इच्छाओं को पूरा करने वाले हैं। कोई भी जीवात्मा स्वतन्त्र नहीं है, सभी परमेश्वर की कृपा पर आश्रित हैं। अतः वेदों का आदेश है कि

परम नायक परमेश्वर के निर्देशानुसार जीवन का उपभोग किया जाय। *ईशोपनिषद्* का आदेश है कि प्रत्येक वस्तु श्रीभगवान् की है, अतः मनुष्य को चाहिए कि वह व्यक्तिगत प्राप्तव्य का भोग करे, किसी अन्य की सम्पत्ति में घुसपैठ न करे। सर्वश्रेष्ठ कार्यक्रम तो यह होगा कि प्रत्येक जीवात्मा परम पुरुष से आदेश ले कर भौतिक या आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करे।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब कर्दम मुनि आध्यात्मिक जीवन में इतना आगे बढ़े हुए थे तो फिर उन्होंने मुक्ति की याचना क्यों नहीं की? परमेश्वर को समक्ष देखकर और अनुभव करके वे भौतिक जीवन का सुख भोगना क्यों चाह रहे थे? इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक प्राणी भौतिक बन्धन से मुक्त होने में कुशल नहीं है। अतः यह प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि अपनी वर्तमान स्थिति के अनुसार भोग करे, किन्तु वेदों या भगवान् के निर्देशानुसार करे। वेद भगवान् के प्रत्यक्ष वचन हैं। भगवान् हमें अवसर देते हैं कि हम अपनी इच्छानुसार भौतिक जीवन को भोगें, किन्तु उसके साथ ही वे वेदों से बँधे हुए चलने का निर्देश भी करते हैं जिससे धीरे-धीरे भौतिक बन्धन से मुक्ति तक उठा जा सके। जो बद्धजीव इस संसार में प्रकृति के ऊपर अपना अधिकार जता कर अपनी इच्छाओं को पूरा करने आये हैं, वे प्रकृति के नियमों से बँधे हुए हैं। सर्वोत्तम मार्ग यही है कि वैदिक नियमों का पालन किया जाय। इससे मुक्ति-प्राप्ति में क्रमशः सहायता मिलेगी।

कर्दम मुनि भगवान् को *शुक्ल* कहकर सम्बोधित करते हैं जिसका अर्थ है, “धर्म का नायक।” जो पवित्र हैं उन्हें चाहिए कि वे धर्म के नियमों का पालन करें, क्योंकि ऐसे नियम भगवान् ने स्वयं बनाये हैं। कोई भी धर्म को बना नहीं सकता। ‘धर्म’ का अर्थ ही है भगवान् के आदेश या नियम। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि धर्म का अर्थ है, उनके शरणागत होना। अतः मनुष्य को चाहिए कि वैदिक नियमों का पालन करे और परमेश्वर को आत्मसमर्पण कर दे, क्योंकि मनुष्य जीवन में सिद्धि का परम लक्ष्य यही है। मनुष्य को पवित्रता का जीवन बिताना चाहिए, धार्मिक विधि-विधानों का पालन करना चाहिए, ब्याह करना चाहिए और आत्म-बोध के उच्च पद को प्राप्त करने के लिए शान्तिपूर्वक रहना चाहिए।

लोकांश्च लोकानुगतान्यशूंश्च
 हित्वा श्रितास्ते चरणातपत्रम् ।
 परस्परं त्वद्गुणवादसीधु-
 पीयूषनिर्यापितदेहधर्माः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

लोकान्—सांसारिक कार्यकलाप; च—तथा; लोक-अनुगतान्—सांसारिकता का अनुसरण करने वाले; पशून्—पशुवत्; च—तथा; हित्वा—त्याग कर; श्रिताः—शरणागत; ते—तुम्हारे; चरण—चरणकमलों का; आतपत्रम्—छत्र; परस्परम्—एक दूसरे से; त्वत्—तुम्हारा; गुण—गुणों का; वाद—तर्क-वितर्क द्वारा; सीधु—मादक; पीयूष—अमृत से; निर्यापित—बुझाया गया; देह-धर्माः—शरीर की मूल आवश्यकताएँ।

फिर भी जिन पुरुषों ने रूढ़ सांसारिकता तथा इनके पशुतुल्य अनुयायियों का परित्याग कर दिया है और जिन्होंने परस्पर विचार-विनिमय के द्वारा आपके गुणों तथा कार्यकलापों के मादक अमृत (सुधा) का पान करके आपके चरण-कमलों की छत्र-छाया ग्रहण की है वे भौतिक देह की मूल आवश्यकताओं से मुक्त हो सकते हैं।

तात्पर्य : कर्दम मुनि विवाहित जीवन की आवश्यकता का वर्णन करने के बाद इस बात पर बल देते हैं कि जो लोग भौतिक इन्द्रिय-सुख में लिप्त रहते हैं उनके लिए विवाह तथा अन्य सामाजिक कार्य रूढ़ (घिसे-पिटे) नियम हैं। पशु जीवन के नियम—खाना, सोना, मैथुन तथा रक्षा करना—वास्तव में शरीर की आवश्यकताएँ हैं, किन्तु जो पुरुष इस भौतिक जगत के इन रूढ़ कार्य-कलापों को त्यागकर दिव्य कृष्णभक्ति में अपने को लगाता है, वह सामाजिक रूढ़ियों से छूट जाता है। बद्धजीव तो माया या शाश्वत काल—भूत, वर्तमान तथा भविष्य—के वश में रहता है, किन्तु ज्योंही वह कृष्णभक्ति में अपने को लगाता है त्योंही वह भूत-भविष्य तथा वर्तमान की सीमाओं को लाँघकर आत्मा के शाश्वत कार्य-कलापों में स्थित हो जाता है। भौतिक जीवन के सुखों व भोग के लिए मनुष्य को वैदिक आदेशों के अनुसार चलना होता है, किन्तु जिन्होंने भगवान् की भक्ति करनी स्वीकार कर ली है वे इस भौतिक जगत के किसी प्रकार के विधि-विधान से भयभीत नहीं होते। ऐसे भक्त भौतिक कार्यकलापों की रूढ़ियों की परवाह नहीं करते; वे निर्भीक होकर उस शरण को ग्रहण करते हैं, जो जन्म-मरण के चक्र रूपी धूप के लिये छाते का काम करती है।

भौतिक अस्तित्व में एक शरीर से दूसरे शरीर में आत्मा का निरन्तर स्थानान्तरण ही दुख का कारण है। बद्ध जीवन का यह भौतिक अस्तित्व ही संसार कहलाता है। कोई व्यक्ति अच्छा कार्य करके अत्यन्त सुन्दर भौतिक परिस्थिति में जन्म ग्रहण कर सकता है, किन्तु जिस प्रक्रम के अनुसार जन्म तथा मृत्यु होती है, वह भीषण अग्नि के समान है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अपने गुरु की प्रार्थना में इसका वर्णन किया है। संसार अर्थात् जन्म-मरण का चक्र वन की अग्नि के सदृश है, वन की अग्नि लकड़ियों के घर्षण से स्वतः लगती है, किसी को प्रयास नहीं करना पड़ता और उसे न तो कोई दयावान् पुरुष, न ही अग्नि-विभाग बुझा सकता है। वह तो तभी बुझ सकती है जब बादलों से मूसलाधार वर्षा हो। बादल की उपमा गुरु की कृपा से दी गई है। गुरु की कृपा से भगवान् का अनुग्रह रूपी बादल लाया जाता है तभी कृष्णभक्ति की वर्षा होने पर संसार की अग्नि बुझाई जा सकती है। इसकी भी यहाँ व्याख्या की गई है। भौतिक संसार के रूढ़ बद्धजीवन से मुक्ति पाने के लिए मनुष्य को भगवान् के चरणकमलों की शरण उस प्रकार से नहीं जिस प्रकार निर्विशेषवादी ग्रहण करते हैं, वरन् भगवान् का जप और उनके कार्यकलापों का श्रवण करते हुए भक्तिमय सेवा में ग्रहण करनी चाहिए। तभी सांसारिक कर्मों एवं बन्धनों से मुक्त हुआ जा सकता है। यहाँ पर यह संस्तुति की गई है कि मनुष्य को चाहिए कि वह इस संसार के बद्धजीवन और तथाकथित सभ्य पुरुषों की संगति का परित्याग कर दे जो शिष्ट रूप में केवल खाने, सोने, संभोग करने तथा रक्षा करने का वही घिसापिटा जीवन बिता रहे हैं। भगवान् की महिमा का कीर्तन तथा श्रवण यहाँ पर त्वद्-गुण-वाद-सीधु के रूप में वर्णित है। भगवान् की लीलाओं का कीर्तन तथा श्रवण रूपी अमृत का पान करके ही मनुष्य इस संसार की मादकता को भूल सकता है।

न तेऽजराक्षभ्रमिरायुरेषां

त्रयोदशारं त्रिशतं षष्टिपर्व ।

षण्णेम्यनन्तच्छदि यत्रिणाभि

करालस्रोतो जगदाच्छिद्य धावत् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ते—तुम्हारे; अजर—अमर ब्रह्म का; अक्ष—धुरी; भ्रमिः—घूमती हुई; आयुः—जीवन काल, उग्र; एषाम्—भक्तों का; त्रयोदश—तेरह; अरम्—तीलियाँ, अरा; त्रि-शतम्—तीन सौ; षष्टि—साठ; पर्व—जोड़, गांठे; षट्—छह; नेमि—परिधियाँ, रिम; अनन्त—असंख्य; छदि—पत्तियाँ, पत्तर; यत्—जो; त्रि—तीन; नाभि—नाभियाँ; कराल-स्रोतः—प्रचण्ड वेग से; जगत्—ब्रह्माण्ड; आच्छिद्य—छेदन करता हुआ; धावत्—दौड़ता हुआ।

आपका तीन नाभिवाला (काल) चक्र अमर ब्रह्म की धुरी के चारों ओर घूम रहा है। इसमें तेरह तीलियाँ (अरे), ३६० जोड़, छह परिधियाँ तथा उस पर अनन्त पत्तियाँ (पत्तर) पिरोयी हुई हैं। यद्यपि इसके घूमने से सम्पूर्ण सृष्टि की जीवन-अवधि घट जाती है, किन्तु यह प्रचण्ड वेगवान् चक्र भगवान् के भक्तों की आयु का स्पर्श नहीं कर सकता।

तात्पर्य : काल द्वारा भक्तों की जीवन-अवधि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। भगवद्गीता में कहा गया है कि थोड़ी सी भक्ति करने से मनुष्य बड़े से बड़े संकटों से बच जाता है। सबसे बड़ा संकट है आत्मा का एक शरीर से दूसरे में देहान्तरण और इससे बचने का एकमात्र उपाय है भगवान् की भक्ति करना। वैदिक साहित्य में कहा गया है—हरिं विना न सृतिं तरन्ति—भगवान् के अनुग्रह के बिना जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा नहीं मिल सकता। भगवद्गीता में कहा गया है कि भगवान् तथा उनके कार्यों की दिव्य प्रकृति, उनके प्राकट्य तथा अन्तर्धान को समझने पर ही मृत्यु का चक्र रुक सकता है और मनुष्य भगवान् के पास वापस जा सकता है। काल को कई अंशों में विभाजित किया गया है—यथा पल, घटिका, मास, वर्ष, अवधियाँ, ऋतुएँ इत्यादि। इस श्लोक में वर्णित सभी विभागों को वैदिक साहित्य की ज्योतिर्विदीय परिगणनाओं से आंका गया है। वर्ष में छह ऋतुएँ होती हैं और चार मास का चातुर्मास्य होता है। इस प्रकार के तीन चातुर्मास्यों से एक वर्ष बनता है। वैदिक ज्योतिर्गणना के अनुसार तेरह मास होते हैं। तेरहवाँ मास अधिमास या मलमास कहलाता है और प्रत्येक तीन वर्ष बाद जुड़ता रहता है, किन्तु यह काल भक्तों की आयु को छू नहीं सकता। एक अन्य श्लोक में कहा गया है कि उदय तथा अस्त होने के समय सूर्य समस्त जीवात्माओं का प्राण हर लेता है, किन्तु जो भक्ति में लिप्त रहते हैं सूर्य उनके प्राण नहीं ले सकता। यहाँ पर काल की तुलना एक विशाल चक्र से की गई है, जिससे ३६० जोड़, ऋतुओं के रूप में छह परिधियाँ तथा क्षणों के रूप में

असंख्य पत्तर लगे हैं। यह नित्य ब्रह्म की धुरी में घूमता है।

एकः स्वयं सञ्जगतः सिसृक्षया-
द्वितीययात्मन्नधियोगमायया ।

सृजस्यदः पासि पुनर्ग्रसिष्यसे
यथोर्णनाभिर्भगवन्स्वशक्तिभिः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

एकः—एक; स्वयम्—अपने से; सन्—होकर; जगतः—ब्रह्माण्ड; सिसृक्षया—सृष्टि करने की अभिलाषा से; अद्वितीयया—अद्वितीय; आत्मन्—अपने में; अधि—वश में करते हुए; योग-मायया—योगमाया से; सृजसि—उत्पन्न करते हो; अदः—वे ब्रह्माण्ड; पासि—भरण करते हो; पुनः—फिर; ग्रसिष्यसे—अन्त कर देते हो; यथा—जिस प्रकार; ऊर्ण-नाभिः—मकड़ी; भगवन्—हे भगवान्; स्व-शक्तिभिः—अपनी शक्ति से।

हे भगवान्, आप अकेले ही ब्रह्माण्डों की सृष्टि करते हैं। हे श्रीभगवान्, इन ब्रह्माण्डों की सृष्टि करने की इच्छा से, आप उनकी सृष्टि करते, उन्हें पालते और फिर अपनी शक्तियों से उनका अन्त कर देते हैं। ये शक्तियाँ आपकी दूसरी शक्ति योगमाया के अधीन हैं, जिस प्रकार एक मकड़ी अपनी शक्ति से जाला बुनती है और पुनः उसे निगल जाती है।

तात्पर्य : इस श्लोक के दो शब्दों से निर्विशेषवादियों का सिद्धान्त कि प्रत्येक वस्तु ईश्वर है निरस्त हो जाता है। यहाँ पर कर्दम मुनि कहते हैं, “हे भगवान्! आप अकेले हैं, किन्तु आपकी शक्तियाँ विविध हैं।” मकड़ी का उदाहरण भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मकड़ी व्यष्टि जीवात्मा है और यह अपनी शक्ति से जाला बुनती है और उस पर खेलती है और जब चाहती है जाले का अन्त करके खेल समाप्त कर देती है। जब मकड़ी की लार से जाला बुना जाता है, तो मकड़ी निर्गुण नहीं हो जाती। इसी प्रकार भौतिक या आध्यात्मिक शक्ति की सृष्टि या प्रादुर्भाव से कर्ता निर्गुण नहीं हो जाता। यह प्रार्थना बताती है कि भगवान् संवेदनशील है और भक्तों की प्रार्थनाएँ सुनते हैं और उन्हें पूरा करते हैं। अतः वे सच्चिदानन्द विग्रह हैं।

नैतद्धताधीश पदं तवेप्सितं
यन्मायया नस्तनुषे भूतसूक्ष्मम् ।
अनुग्रहायास्त्वपि यर्हि मायया

लसत्तुलस्या भगवान्विलक्षितः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एतत्—यह; बत—निस्सन्देह; अधीश—हे भगवान्; पदम्—भौतिक संसार; तव—तुम्हारी; ईप्सितम्—इच्छा; यत्—जो; मायया—आपकी बहिरंगा शक्ति से; नः—हमारे लिए; तनुषे—प्रकट होते हो; भूत-सूक्ष्मम्—स्थूल तथा सूक्ष्म तत्त्व; अनुग्रहाय—अनुग्रह करने के लिए; अस्तु—हो; अपि—भी; यर्हि—जब; मायया—आपकी अहैतुकी कृपा से; लसत्—भव्य; तुलस्या—तुलसी दल की माला से; भगवान्—श्रीभगवान्; विलक्षितः—देखा जाता है।

हे भगवान्, इच्छा के न होते हुए भी आप स्थूल तथा सूक्ष्म तत्त्वों की इस सृष्टि को हमारी ऐन्द्रिय तृष्टि के लिए प्रकट करते हैं। आपकी अहैतुकी कृपा हमें प्राप्त हो, क्योंकि आप अपने नित्य रूप में तुलसीदल की माला से विभूषित होकर हमारे समक्ष प्रकट हुए हैं।

तात्पर्य : यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि भौतिक जगत की सृष्टि परमेश्वर की निजी इच्छा से नहीं वरन् उनकी बहिरंगा शक्ति के द्वारा होती है, क्योंकि जीवात्माएँ उसका उपभोग करना चाहती हैं। यह संसार उन लोगों के लिए नहीं बनाया गया जो इन्द्रिय-तृप्ति का सुख नहीं उठाना चाहते, जो निरन्तर दिव्य प्रेमाभक्ति में व्यस्त रहते हैं और जो नित्य कृष्णभावना भावित रहते हैं। उनके लिए तो आध्यात्मिक जगत निरन्तर विद्यमान है, जिसे वे भोग सकते हैं। श्रीमद् *भागवत* में अन्यत्र कहा गया है कि जिन लोगों ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली है उनके लिए यह संसार व्यर्थ है। चूँकि यह संसार पद-पद में संकट से पूर्ण है, अतः यह भक्तों के निमित्त न होकर उन जीवात्माओं के लिए है, जो अपने जोखिम पर भौतिक शक्ति को वश में रखना चाहते हैं। श्रीकृष्ण इतने दयालु हैं कि इन्द्रिय-सुख चाहने वालों के लिए उन्होंने पृथक् जगत की सृष्टि की है, जिसे वे अपनी इच्छानुसार भोग सकें; फिर भी वे अपने सगुण रूप में प्रकट होते हैं। भगवान् अनिच्छापूर्वक इस भौतिक संसार की सृष्टि करते हैं, किन्तु वे या तो स्वयं साकार होकर अवतरित होते हैं या अपने किसी विश्वासपात्र पुत्र या सेवक या फिर वेदव्यास जैसे विश्वसनीय लेखक को उपदेश देने के लिए भेजते हैं। वे *भगवद्गीता* के प्रवचनों के रूप में स्वयं उपदेश देते हैं। सृष्टि के साथ-साथ यह प्रचार कार्य भी चलता रहता है, जिससे इस संसार में सड़ रही पथभ्रष्ट जीवात्माएँ भगवान् के धाम पहुँच कर

उनकी शरण ग्रहण कर लें। इसीलिए *भगवद्गीता* का अन्तिम उपदेश है, “इस संसार के सारे बनावटी कार्यों को त्यागकर मेरी शरण में आओ। मैं समस्त पापमय कर्मफलों से तुम्हें बचा लूँगा।”

तं त्वानुभूत्योपरतक्रियार्थं
स्वमायया वर्तितलोकतन्त्रम् ।
नमाम्यभीक्षणं नमनीयपाद-
सरोजमल्पीयसि कामवर्षम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; त्वा—तुमको; अनुभूत्या—अनुभूति द्वारा; उपरत—उपेक्षित; क्रिया—सकाम कर्मों का सुख; अर्थम्—जिससे कि; स्व-मायया—अपनी शक्ति से; वर्तित—लाया गया; लोक-तन्त्रम्—भौतिक लोक; नमामि—नमस्कार करता हूँ; अभीक्षणम्—निरन्तर; नमनीय—पूज्य; पाद-सरोजम्—चरणकमल; अल्पीयसि—अकिंचन; काम—आकांक्षाएँ; वर्षम्—वर्षा करते हुए।

मैं आपके चरण-कमलों में निरन्तर सादर नमस्कार करता हूँ, जिनकी शरण ग्रहण करना श्रेयस्कर है, क्योंकि आप अकिंचनों पर समस्त आशीर्वादों की वृष्टि करने वाले हैं। आपने इन भौतिक लोकों को अपनी ही शक्ति से विस्तार दिया है, जिससे समस्त जीवात्माएँ आपकी अनुभूति के द्वारा सकाम कर्मों से विरक्ति प्राप्त कर सकें।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति जो भौतिक सुख, मुक्ति या भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति का अभिलाषी है, उसे चाहिए कि भगवान् को नमस्कार करे, क्योंकि भगवान् प्रत्येक मनुष्य को मनवांछित फल देने वाले हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् ने दृढ़तापूर्वक कहा है—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते*—जो कोई इस संसार में सफलतापूर्वक भोग करना चाहता है भगवान् उसे भोग का वर देते हैं, जो इस संसार के बन्धन से मुक्त होना चाहता है उसे वे मुक्ति प्रदान करते हैं और जो पूर्ण कृष्णभावनामृत में जुटे रहना चाहता है भगवान् उसे भक्ति का वर प्रदान करते हैं। भौतिक सुख के लिए उन्होंने वेदों में अनेक यज्ञ करने की संस्तुति की है और उन आदेशों के लाभ से या तो उच्चतर लोकों में या किसी सम्पन्न परिवार में रहकर भौतिक आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। ये विधियाँ वेदों में उल्लिखित हैं और लोग इन्हीं से लाभ उठा सकते हैं। इस भौतिक संसार से उद्धार चाहने वाले लोग भी उसी प्रकार लाभ उठा सकते हैं।

जब तक कोई इस भौतिक संसार के सुख से ऊब नहीं जाता वह मुक्ति की कामना नहीं कर सकता। मुक्ति भौतिक सुख से ऊबने वाले के लिए है। अतः वेदान्त सूत्र का कथन है—
 अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा—जिन्होंने इस संसार में सुखी रहने की आशा छोड़ दी है वे ही परम सत्य की खोज के प्रति उन्मुख होते हैं। जो लोग परम सत्य को जानना चाहते हैं उनके लिए वेदान्त सूत्र तो उपलब्ध है और उसी प्रकार उसका भाष्य श्रीमद्भागवत भी है। चूँकि भगवद्गीता भी वेदान्त सूत्र ही है, अतः श्रीमद्भागवत, वेदान्त सूत्र अथवा भगवद्गीता को समझ कर वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। वास्तविक ज्ञान हो जाने पर सिद्धान्ततः परमेश्वर से तदाकार हुआ जा सकता है और जब कोई ब्रह्म की सेवा या कृष्ण-भक्ति करने लगता है, तो वह न केवल मुक्त हो जाता है, वरन् आध्यात्मिक-जीवन में स्थित हो जाता है। इसी प्रकार जो भौतिक प्रकृति पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए भौतिक सुख के लिए अनेक साधन रहते हैं। भौतिक ज्ञान तथा भौतिक विज्ञान सभी उपलब्ध हैं और जो इनका भोग करना चाहते हैं भगवान् उन्हें वह भी प्रदान करते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि किसी भी वरदान के लिए पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा करनी चाहिए। यहाँ काम-वर्षम् शब्द अत्यन्त सार्थक है, क्योंकि यह सूचित करता है कि जो कोई भी भगवान् के पास पहुँचता है वे उसकी आकांक्षाओं को पूरा करते हैं। किन्तु जो श्रीकृष्ण से प्रेम करने के साथ ही भौतिक सुख भी चाहता है, वह अत्यन्त दुविधा में रहता है। श्रीकृष्ण उसके प्रति अत्यन्त दयालु होने के कारण दिव्य प्रेमाभक्ति में अनुरक्त होने का उसे अवसर प्रदान करते हैं, जिससे वह क्रमशः व्यामोह को भूल जाता है।

ऋषिरुवाच

इत्यव्यलीकं प्रणुतोऽब्जनाभ-

स्तमाबभाषे वचसामृतेन ।

सुपर्णपक्षोपरि रोचमानः

प्रेमस्मितोद्वीक्षणविभ्रमद्भूः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

ऋषिः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने कहा; इति—इस प्रकार; अव्यलीकम्—निष्ठापूर्वक; प्रणुतः—प्रशंसित होकर; अब्ज-नाभः—भगवान् विष्णु ने; तम्—कर्दम मुनि को; आबभाषे—उत्तर दिया; वचसा—शब्दों से; अमृतेन—अमृत के समान मधुर; सुपर्ण—गरुड़; पक्ष—कंधे के; उपरि—ऊपर; रोचमानः—चमकते हुए; प्रेम—स्नेह का; स्मित—हँसी से; उद्दीक्षण—देखते हुए; विभ्रमत्—चलायमान; भूः—भौंहें।

मैत्रेय ने कहा—इन शब्दों से प्रशंसित होने पर गरुड़ के कंधों पर अत्यन्त मनोहारी रूप से दैदीप्यमान भगवान् विष्णु ने अमृत के समान मधुर शब्दों में उत्तर दिया। उनकी भौंहें ऋषि की ओर स्नेहपूर्ण हँसी से देखने के कारण चञ्चल हो रही थीं।

तात्पर्य : वचसामृतेन शब्द महत्त्वपूर्ण है। जब भी भगवान् बोलते हैं, तो वे दिव्यलोक से बोलते हैं, भौतिक जगत से नहीं। चूँकि वे दिव्य हैं, उनकी वाणी तथा उनके कार्य भी सभी दिव्य हैं, उनसे सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु दिव्य है। अमृत शब्द से उस व्यक्ति का बोध होता है, जिसकी मृत्यु नहीं होती। भगवान् के शब्द तथा उनके कार्य मृत्युविहीन (अमर) हैं, अतः वे इस भौतिक जगत के द्वारा निर्मित नहीं हो सकते। इस संसार तथा अध्यात्म-जगत की ध्वनियाँ भिन्न-भिन्न हैं। अध्यात्म-जगत की ध्वनि अमृत तथा नित्य होती है, जबकि इस संसार की ध्वनि घिसी-पिटी तथा नश्वर है। हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे—इस पवित्र नाम की ध्वनि जप करने वाले को निरन्तर प्रोत्साहन प्रदान करने वाली है। यदि कोई उबाऊ शब्दों का उच्चारण करता है, तो उसे थकान लगती है, किन्तु यदि कोई चौबीसों घण्टे हरेकृष्ण का जप करे तो थकान का अनुभव कभी नहीं होगा, बजाय इसके वह और उत्साह से अधिकाधिक जप करता ही जाएगा। जब भगवान् ने कर्दम मुनि को उत्तर दिया तो उसमें वचसामृतेन शब्द का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है, क्योंकि वे दिव्यलोक से बोल रहे थे। उनका उत्तर दिव्य शब्दों में था और जब वे बोल रहे थे तो उनकी भौंहें प्रेमवश चलायमान थीं। जब भक्त भगवान् के यश का गान करते हैं, तो वे अत्यन्त प्रसन्न होते हैं और भक्तों को बिना हिचक दिव्य वर प्रदान करते हैं, क्योंकि वे अकारण भक्तों पर कृपालु रहते हैं।

श्रीभगवानुवाच

विदित्वा तव चैत्यं मे पुरैव समयोजि तत् ।

यदर्थमात्मनियमैस्त्वयैवाहं समर्चितः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—परमेश्वर से कहा; विदित्वा—जानकर; तव—तुम्हारी; चैत्यम्—मानसिक स्थिति; मे—मेरे द्वारा; पुरा—इसके पूर्व ही; एव—निश्चय ही; समयोजि—योजना की गई; तत्—वह; यत्-अर्थम्—जिसके लिए; आत्म—मन तथा इन्द्रियों का; नियमैः—संयम या अनुशासन से; त्वया—तुम्हारे द्वारा; एव—केवल; अहम्—मैं; समर्चितः—पूजित हुआ।

भगवान् ने कहा—जिसके लिए तुमने आत्मा संयमादि के द्वारा मेरी आराधना की है, तुम्हारे मन के उस भाव को पहले ही जानकर मैंने उसकी व्यवस्था कर दी है।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सबों के हृदय में परमात्मा रूप में स्थित हैं, अतः वे प्रत्येक व्यक्ति के भूत, वर्तमान तथा भविष्य को जानने के साथ ही उसकी इच्छाओं, कार्यों तथा उसके विषय में सब कुछ जानते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि वे हृदय में साक्षीस्वरूप स्थित हैं। भगवान् कर्दम मुनि के हृदय की अभिलाषा को जान गये और उसकी पूर्ति के लिए उन्होंने पहले ही व्यवस्था कर दी थी। वे एकनिष्ठ भक्त को, चाहे वह जो कुछ भी चाहे, निराश नहीं करते, किन्तु उसकी भक्ति के मार्ग में किसी प्रकार की बाधा आने नहीं देते।

न वै जातु मृषैव स्यात्प्रजाध्यक्ष मदर्हणम् ।

भवद्विधेष्वतितरां मयि सद्भितात्मनाम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वै—निस्सन्देह; जातु—कभी; मृषा—झूठा, वृथा; एव—केवल; स्यात्—होए; प्रजा—जीवात्माओं के; अध्यक्ष—हे प्रमुख; मत्-अर्हणम्—मेरी पूजा; भवत्-विधेषु—तुम जैसे लोगों को; अतितराम्—पूर्णतया; मयि—मुझमें; सद्भित—स्थिर हैं; आत्मनाम्—उनका जिनके मन।

भगवान् ने आगे कहा—हे ऋषि, हे जीवात्माओं के अध्यक्ष, जो लोग मेरी पूजा द्वारा भक्तिपूर्वक मेरी सेवा करते हैं, विशेष रूप से तुम जैसे पुरुष जिन्होंने अपना सर्वस्व मुझे अर्पित कर रखा है, उन्हें निराश होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

तात्पर्य : भगवान् की सेवा में लगे पुरुष की यदि कोई इच्छाएँ होती भी है, तो वह कभी निराश नहीं होता। सेवा में लगे पुरुष *सकाम* तथा *अकाम* कहलाते हैं। जो भौतिक सुख की अभिलाषा से भगवान् की शरण में जाते हैं, वे *सकाम* कहलाते हैं और जो इन्द्रियतृप्ति के लिए किसी प्रकार की इच्छाएँ नहीं करते, किन्तु स्वतः जात प्रेमवश उनकी सेवा करते हैं, वे *अकाम* कहलाते हैं। *सकाम* भक्तों की भी चार श्रेणियाँ हैं—आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु तथा ज्ञानी। कोई

शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट के कारण, तो कोई धन की आवश्यकता के कारण, कोई ईश्वर को जानने की इच्छा से कि वह है क्या और कोई अपनी ज्ञानमयी खोज से दार्शनिक की तरह भगवान् को जानने की इच्छा से भगवान् की सेवा करते हैं। इनमें से किसी भी श्रेणी के पुरुषों को निराश नहीं होना पड़ता, प्रत्येक को अपनी पूजा का अभीष्ट फल प्राप्त होता है।

प्रजापतिसुतः सम्राणमनुर्विख्यातमङ्गलः ।

ब्रह्मावर्त योऽधिवसन्शास्ति सप्तार्णवां महीम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

प्रजापति-सुतः— भगवान् ब्रह्मा का पुत्र; सम्राट्—महान् राजा; मनुः—स्वायंभुव मनु; विख्यात—सुप्रसिद्ध; मङ्गलः— जिसके शुभ कार्य; ब्रह्मावर्तम्—ब्रह्मावर्त; यः—जो; अधिवसन्—रहते हुए; शास्ति—शासन करता है; सप्त—सात; अर्णवाम्—समुद्र; महीम्—पृथ्वी।

भगवान् ब्रह्मा के पुत्र सम्राट् स्वायंभुव मनु जो अपने सुकृत्यों के लिए विख्यात हैं, ब्रह्मावर्त में स्थित होकर सात समुद्रों वाली पृथ्वी पर शासन करते हैं।

तात्पर्य : कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्मावर्त कुरुक्षेत्र का एक अंग है या कि कुरुक्षेत्र स्वयं ब्रह्मावर्त में स्थित है, क्योंकि देवताओं को कुरुक्षेत्र में दैवी कर्मकाण्ड सम्पन्न करने की संस्तुति की जाती है। कुछ अन्य लोगों का मत है कि ब्रह्मावर्त ब्रह्मलोक का एक स्थान है जहाँ स्वायंभुव शासन करते थे। इस पृथ्वी पर ऐसे अनेक स्थान हैं, जो उच्चलोक में भी जाने जाते हैं। उदाहरणार्थ, इस लोक में वृन्दावन, द्वारका तथा मथुरा जैसे स्थान हैं, किन्तु ये शाश्वत रूप में कृष्णलोक में भी स्थित हैं। पृथ्वी पर ऐसे ही अनेक नाम हैं और सम्भव है कि जैसे यहाँ कहा गया है वराह युग में स्वायंभुव मनु ने इस लोक पर भी शासन किया हो। *मंगलः* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। मंगल का अर्थ है, वह जो सभी प्रकार से धार्मिक अनुष्ठानों, शासन शक्ति, स्वच्छता तथा अन्य गुणों के ऐश्वर्य से सम्पन्न हो। *विख्यात* का अर्थ है सुप्रसिद्ध। स्वायंभुव मनु इन सभी के ऐश्वर्य से सद्गुणों तथा वैभवों के लिए सुप्रसिद्ध थे।

स चेह विप्र राजर्षिर्महिष्या शतरूपया ।

आयास्यति दिदक्षुस्त्वां परश्वो धर्मकोविदः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सः—स्वायंभुव मनु; च—तथा; इह—यहाँ; विप्र—हे पवित्र ब्राह्मण; राज-ऋषिः—साधु राजा; महिष्या—अपनी रानी (महिषी) सहित; शतरूपा—शतरूपा नामक; आयास्यति—आएँगे; दिदक्षुः—देखने की इच्छा से; त्वाम्—तुमको; परश्रुः—परसों; धर्म—धार्मिक कृत्यों में; कोविदः—दक्ष।

हे ब्राह्मण, धार्मिक कृत्यों में दक्ष सुप्रसिद्ध सम्राट अपनी पत्नी शतरूपा सहित तुम्हें देखने के लिए परसों यहाँ आएँगे।

आत्मजामसितापाङ्गी वयःशीलगुणान्विताम् ।
मृगयन्तीं पतिं दास्यत्यनुरूपाय ते प्रभो ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

आत्म-जाम्—अपनी पुत्री; असित—श्याम; अपाङ्गीम्—आँखें; वयः—तरुण आयु; शील—आचरण से; गुण—अच्छे गुणों से; अन्विताम्—युक्त; मृगयन्तीम्—खोजती हुई; पतिम्—पति को; दास्यति—दे देंगे; अनुरूपाय—अनुरूप, उपयुक्त; ते—तुमको; प्रभो—महोदय!.

उनके एक श्याम नेत्रों वाली तरुणी कन्या है। वह विवाह के योग्य है, वह उत्तम आचरण वाली तथा सर्व गुणसम्पन्न है। वह भी अच्छे पति की तलाश में है। महाशय, उसके माता-पिता तुम्हें देखने आएँगे। तुम उसके सर्वथा अनुरूप हो जिससे वे अपनी कन्या को तुम्हारी पत्नी के रूप में अर्पित कर देंगे।

तात्पर्य : अच्छी कन्या के लिए अच्छे वर का चुनाव सदैव माता पिता करते रहे हैं। यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि मनु तथा उनकी पत्नी अपनी कन्या को प्रदान करने के लिए कर्दम मुनि को देखने जा रहे थे, क्योंकि उनकी कन्या योग्य थी और वे समान गुण वाले वर की तलाश में थे। यही माता-पिता का कर्तव्य है। लड़कियों को कभी सड़क पर निकल कर पति की तलाश करने की आज्ञा नहीं दी जाती, क्योंकि युवती होकर यदि वे पति की तलाश करें तो वे भूल जाएँगी कि पति उनके अनुरूप भी है या नहीं। काम-पिपासा के कारण वे किसी को भी पति बना सकती हैं, किन्तु यदि माता-पिता उसके पति का चुनाव करते हैं, तो विचार कर सकते हैं कि किसे चुना जाय और किसे नहीं। फलतः वैदिक पद्धति में माता-पिता अनुरूप वर को कन्या का दान करते हैं, उसे स्वतन्त्र रूप से वर चुनने की आज्ञा नहीं दी जाती।

समाहितं ते हृदयं यत्रेमान्परिवत्सरान् ।
सा त्वां ब्रह्मन्पवधूः काममाशु भजिष्यति ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

समाहितम्—स्थिर; ते—तुम्हारे; हृदयम्—हृदय; यत्र—जिस पर; इमान्—इतने; परिवत्सरान्—वर्षों तक; सा—वह; त्वाम्—तुमको; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; नृप-वधूः—राजकुमारी; कामम्—इच्छानुरूप; आशु—शीघ्र ही; भजिष्यति—सेवा करेगी।

हे ऋषि, वह राजकुमारी उसी प्रकार की होगी जिस प्रकार की तुम इतने वर्षों से अपने मन में सोचते रहे हो। वह शीघ्र ही तुम्हारी हो जाएगी और वह जी भर तुम्हारी सेवा करेगी।

तात्पर्य : भगवान् भक्तों के मनोरथों को पूरा करने वाले हैं, अतः भगवान् ने कर्दम मुनि को बतलाया, “जो कन्या तुमसे विवाहित होने जा रही है, वह स्वायंभुव मनु की पुत्री और राजकुमारी है, अतः वह तुम्हारे योग्य है।” केवल ईश्वर की कृपा से किसी को मनवांछित पत्नी प्राप्त होती है; इसी प्रकार लड़की को भी ईश्वर की कृपा से मनानुकूल पति मिलता है। इस प्रकार यह कहा जाता है कि हम नित्यप्रति के कार्यों के लिए परमेश्वर से प्रार्थना करते रहें तो हर काम सुचारु रूप से और हमारी रुचि के अनुकूल सम्पन्न होगा। दूसरे शब्दों में, सभी परिस्थितियों में हमें श्रीभगवान् की शरण में जाना चाहिए और उनके निर्णय पर पूर्णतया निर्भर रहना चाहिए। मनुष्य सोचता कुछ है और होता कुछ है। अतः इच्छाओं की पूर्ति श्रीभगवान् पर छोड़ देना सबसे उत्तम हल है। कर्दम मुनि को पत्नी की आकांक्षा थी, किन्तु भगवद्भक्त होने के कारण भगवान् ने उनके लिए सम्राट की पुत्री, राजकुमारी को चुन दिया। इस प्रकार कर्दम मुनि को अपनी आशा से बढ़कर पत्नी-लाभ हुआ। यदि हम श्रीभगवान् की रुचि पर निर्भर करें तो हमारी आकांक्षा से भी अधिक, प्रचुर मात्रा में, वर प्राप्त हो सकते हैं।

यहाँ पर यह भी ध्यान देने की महत्वपूर्ण बात है कि कर्दम मुनि ब्राह्मण थे, जबकि सम्राट स्वायंभुव क्षत्रिय थे। अतः उस काल में भी अन्तर्जातीय विवाह प्रचलित था। प्रचलन यह था कि कोई ब्राह्मण क्षत्रिय की कन्या से विवाह कर सकता था, किन्तु क्षत्रिय किसी ब्राह्मण कन्या से विवाह नहीं कर सकता था। वैदिक काल के इतिहास से ऐसे प्रमाण प्राप्त हैं कि शुक्राचार्य ने अपनी पुत्री महाराज ययाति को दी, किन्तु राजा ने ब्राह्मण-पुत्री से विवाह करने से इनकार कर दिया। केवल ब्राह्मण की विशेष आज्ञा से ही वे विवाह कर सकते थे। अतः प्राचीन काल

में, लाखों वर्षों पूर्व अन्तर्जातीय विवाह वर्जित न था वरन् नियमित सामाजिक प्रथा के रूप में था।

या त आत्मभृतं वीर्यं नवधा प्रसविष्यति ।

वीर्यं त्वदीये ऋषये आधास्यन्त्यञ्जसात्मनः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

या—वह; ते—तुम्हारे द्वारा; आत्म-भृतम्—उसमें बोये गये; वीर्यम्—बीज से; नव-धा—नौ कन्याएँ; प्रसविष्यति—जन्म देगी; वीर्यं त्वदीये—तुम्हारे द्वारा उत्पन्न कन्याओं में; ऋषयः—ऋषिगण; आधास्यन्ति—उत्पन्न करेंगे; अञ्जसा—कुल मिलाकर; आत्मनः—सन्तानें।

वह तुम्हारा वीर्य धारण करके नौ पुत्रियाँ उत्पन्न करेगी और यथासमय इन कन्याओं से ऋषि सन्तानें उत्पन्न करेंगे।

त्वं च सम्यगनुष्ठाय निदेशं म उशत्तमः ।

मयि तीर्थीकृताशेषक्रियार्थो मां प्रपत्स्यसे ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; च—तथा; सम्यक्—उचित रीति से; अनुष्ठाय—अनुष्ठान करके; निदेशम्—आदेश; मे—मेरा; उशत्तमः—पूर्णतया पवित्र किया; मयि—मुझे; तीर्थी-कृत—अर्पित करके; अशेष—समस्त; क्रिया—कार्य का; अर्थः—फल; माम्—मुझे; प्रपत्स्यसे—प्राप्त करोगे।

मेरी आज्ञा का अच्छी तरह से पालन करने के कारण स्वच्छ हृदय होकर तुम अपने सब कर्मों का फल मुझे अर्पित करके अन्त में मुझे ही प्राप्त करोगे।

तात्पर्य : तीर्थी-कृताशेष-क्रियार्थः शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। तीर्थ का अर्थ है, वह पवित्र स्थान जहाँ दान दिया जाता है। लोग तीर्थस्थल में जाते थे और दिल खोलकर दान देते थे। यह प्रथा अब भी चालू है। अतः भगवान् ने कहा, “अपने कर्मों तथा उनके फलों को पवित्र बनाने के लिए तुम प्रत्येक वस्तु मुझे अर्पित करोगे।” इसकी पुष्टि भगवद्गीता में भी की गई है—“तुम जो भी करो, जो भी खाओ, जो भी यज्ञ करो, उसका फल केवल मुझे अर्पित होना चाहिए।” अन्यत्र भगवद्गीता में भगवान् ने कहा है, “समस्त यज्ञों, तपों तथा मनुष्य या समाज के लिए जो कुछ भी किया जाता है उन सबका भोक्ता मैं ही हूँ।” उक्त समस्त कार्य, चाहे परिवार के कल्याण के लिए हो या समाज, देश अथवा मानवता के लिए, उन्हें कृष्ण-भावनामृत के लिए

सम्पन्न किया जाना चाहिए। यही भगवान् का कर्दम मुनि को उपदेश है। महाराज युधिष्ठिर ने नारद मुनि का सत्कार करते हुए कहा—“आप जहाँ भी उपस्थित रहते हैं वह स्थान पवित्र हो जाता है, क्योंकि आपके हृदय में स्वयं भगवान् सदैव स्थित रहते हैं।” इसी प्रकार यदि हम भगवान् तथा उनके प्रतिनिधि के आदेशों पर कृष्णभावनामृत के लिए कर्म करते हैं, तो प्रत्येक वस्तु पवित्र हो जाती है। यह संकेत कर्दम मुनि को किया गया जिन्होंने इसके अनुसार कार्य किया जिससे उन्हें सर्वोत्तम पत्नी मिली और पुत्र भी, जैसाकि आगे बताया जाएगा।

कृत्वा दयां च जीवेषु दत्त्वा चाभयमात्मवान् ।
मय्यात्मानं सह जगद्द्रक्ष्यस्यात्मनि चापि माम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

कृत्वा—प्रदर्शित करके; दयाम्—दया; च—तथा; जीवेषु—जीवों के प्रति; दत्त्वा—दे करके; च—तथा; अभयम्—सुरक्षा का आश्वासन; आत्म-वान्—आत्म-साक्षात्कार; मयि—मुझमें; आत्मानम्—अपने आप को; सह जगत्—ब्रह्माण्ड सहित; द्रक्ष्यसि—देखोगे; आत्मनि—अपने में; च—तथा; अपि—भी; माम्—मुझको।

समस्त जीवों पर दया करते हुए तुम आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर सकोगे; फिर सबको अभयदान देकर अपने सहित सम्पूर्ण जगत को मुझमें और मुझको अपने में स्थित देखोगे।

तात्पर्य : यहाँ पर प्रत्येक जीवात्मा के लिए आत्म-साक्षात्कार की सरल विधि का वर्णन हुआ है। जिस प्रथम नियम को समझ लेना होगा वह यह है कि यह जगत भगवान् की इच्छा का फल है। परमेश्वर से इस जगत की आत्मीयता है। किन्तु निर्विशेषवादी इस तादात्मता को गलत ढंग से ग्रहण करते हैं; उनका कहना है कि परम सत्य परमेश्वर अपने को ब्रह्माण्ड में रूपान्तरित करके अपनी पृथक् सत्ता को खो देता है। इस प्रकार वे जगत को तथा इसकी प्रत्येक वस्तु को भगवान् मानते हैं। यह सर्वेश्वरवाद है, जिसमें प्रत्येक वस्तु को भगवान् माना जाता है। यह निर्विशेषवादियों का मत है। किन्तु जो भगवान् के निजी भक्त हैं, वे प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सम्पत्ति मानते हैं। हम जो भी देखते हैं वह भगवान् का प्राकट्य है, अतः प्रत्येक वस्तु भगवान् की सेवा में अर्पित की जानी चाहिए। यही तादात्म्य है। सगुणवादियों तथा निर्गुणवादियों का यही अन्तर है कि निर्गुणवादी भगवान् की पृथक् सत्ता को स्वीकार नहीं

करते, किन्तु सगुणवादी इसे स्वीकार करते हैं, वे जानते हैं कि भगवान् अनेक प्रकार से विभक्त होने पर भी अपनी पृथक् सत्ता रखता है। इसका वर्णन *भगवद्गीता* में हुआ है, “मैं सम्पूर्ण जगत में निराकार रूप में फैला हुआ हूँ। प्रत्येक वस्तु मुझ पर आधारित है, किन्तु मैं उसमें उपस्थित नहीं हूँ।” सूर्य तथा सूर्यप्रकाश का दृष्टान्त अतीव सुन्दर है। सूर्य अपने प्रकाश से ब्रह्माण्ड भर में फैला हुआ है और सभी लोक सूर्यप्रकाश पर निर्भर हैं, किन्तु सभी लोक सूर्यलोक से भिन्न हैं। कोई यह नहीं कह सकता क्योंकि लोक सूर्यप्रकाश पर निर्भर हैं अतः वे भी सूर्य हैं। इसी प्रकार निर्विशेषदियों या सर्वेश्वरवादियों का यह मत कि प्रत्येक वस्तु ईश्वर है बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है। जैसाकि भगवान् ने स्वयं कहा है कि वास्तविक स्थिति यह है कि यद्यपि भगवान् के बिना किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता, किन्तु यह तथ्य नहीं है कि प्रत्येक वस्तु भगवान् है। वे प्रत्येक वस्तु से पृथक् हैं। अतः यहाँ भी भगवान् कहते हैं, “तुम इस संसार में प्रत्येक वस्तु को मुझसे अभिन्न देखोगे।” इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक वस्तु को भगवान् की शक्ति का फल मानना चाहिए, अतः प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सेवा में लगाना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि अपनी शक्ति का उपयोग अपने हित के लिए करे। यही शक्ति की सार्थकता (पूर्णता) है।

यदि कोई दयालु हो तो इस शक्ति का उपयोग वास्तविक आत्महित में किया जा सकता है। कृष्णभावनाभावित मनुष्य सदैव भगवान् का भक्त और सदय होता है। उसे इससे सन्तोष नहीं होता है कि वही एक भक्त है, वरन् वह अपनी भक्ति का ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति में बाँटने का प्रयत्न करता है। भगवान् के ऐसे अनेक भक्त हैं जिनको इस प्रकार भक्ति-ज्ञान वितरित करने में अनेक संकट उठाने पड़े। वह तो करना ही चाहिए।

यह भी कहा गया है कि जो भगवान् के मन्दिर में जाकर अत्यन्त भक्तिपूर्वक पूजा करता है, किन्तु जो अन्यो पर दया नहीं करता या अन्य भक्तों का आदर नहीं करता वह तीसरी श्रेणी का भक्त है। दूसरी श्रेणी का भक्त वह है, जो पतितों पर दया एवं करुणा प्रदर्शित करता है। वह अपने को भगवान् का शाश्वत् दास समझता है, फलतः वह भक्तों से मित्रता स्थापित करता

है, जनसामान्य को भक्ति का उपदेश देता है और अभक्तों का साथ नहीं करता। जब तक भगवान् की भक्ति करते हुए गृहस्थ कोई जनसामान्य पर दया नहीं दिखाता वह तृतीय श्रेणी का भक्त होता है। प्रथम श्रेणी का भक्त समस्त जीवों को आश्वासन देता रहता है कि इस भौतिक संसार में कोई भय नहीं है, “सभी लोग कृष्ण-भक्ति करें और संसार के अज्ञान को जीतें।”

यहाँ यह इंगित है कि भगवान् ने कर्दम मुनि को आदेशित किया कि वे अपने गृहस्थ जीवन में दयालु तथा उदार रहें और विरक्त होने पर लोगों को आश्चस्त करते रहें। संन्यासी इसी के लिए होता है कि लोगों को प्रकाश दे। उसे चाहिए कि लोगों को ज्ञान देने के लिए वह घर-घर जाए। गृहस्थ माया के वशीभूत होकर गृहस्थी के कार्यों में निमग्न हो जाता है और श्रीकृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को भूल जाता है। यदि वह बिल्लियों तथा कुत्तों की तरह विस्मृति में ही मर जाता है, तो उसका जीवन नष्ट हो जाता है। अतः यह संन्यासी का कर्तव्य है कि वह जा जाकर विस्मृत जीवों को भगवान् के साथ उनके सम्बन्धों को बताये और उन्हें भक्ति में लगाए। भक्तों को पतितात्माओं पर दया दिखानी चाहिए और उन्हें निर्भय रहने का आश्वासन देना चाहिए। ज्योंही कोई भक्त बन जाता है उसे विश्वास हो जाता है कि वह भगवान् द्वारा रक्षित है। स्वयं भय भी भगवान् से भयभीत रहता है, अतः भय इत्यादि से उसे क्या लेना-देना ?

सामान्य जन को निर्भय बनाना सबसे बड़ा पुण्य कार्य है। संन्यासी को चाहिए कि वह द्वार द्वार, गाँव गाँव, नगर नगर, देश देश तथा विश्व भर में जहाँ भी सम्भव हो सके जाए और गृहस्थों में कृष्णभावनामृत जगाए। जो गृहस्थ रहकर संन्यासी से दीक्षा लेता है उसका भी परम कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने स्थान पर कृष्णभावनामृत का प्रसार करे और जहाँ तक सम्भव हो, अपने मित्रों तथा पड़ोसियों को अपने घर बुलाए और कृष्णचेतना का पाठ पढ़ाए। पाठ पढ़ाने का अर्थ है श्रीकृष्ण के पवित्र नाम का कीर्तन तथा *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* का उपदेश। कृष्णभावनामृत के प्रसार हेतु विपुल साहित्य है और प्रत्येक गृहस्थ का धर्म है कि वह अपने संन्यासी गुरु से श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में जाने। भगवान् की सेवा के हेतु श्रम विभाजन

होता है। गृहस्थ का कार्य है कि वह धन अर्जित करे, क्योंकि संन्यासी से धन-उपार्जन की आशा नहीं की जा सकती, वह तो गृहस्थ पर पूर्णतः आश्रित होता है। गृहस्थ को चाहिए कि व्यापार या किसी धंधे से धन कमाए और अपनी आय का कम से कम पचास प्रतिशत कृष्णभावनामृत के प्रसार में व्यय करे, शेष में से पच्चीस प्रतिशत अपने परिवार पर खर्चें और शेष पच्चीस प्रतिशत को विपत्ति के लिए बचा रखे। यह आदर्श रूप गोस्वामी ने प्रस्तुत किया जिसका अनुसरण सभी भक्तों को करना चाहिए।

वस्तुतः परमेश्वर से तादात्म्य का अर्थ है भगवान् की रुचि (हित) के साथ तादात्म्य। तादात्म्य का अर्थ भगवान् के समान महान् होना कदापि नहीं है। यह असम्भव है। अंश कभी भी सम्पूर्ण के तुल्य नहीं हो सकता। जीवात्मा तो सदैव क्षुद्र अंश है। अतः उसके तादात्म्य का अर्थ होता है कि भगवान् के हित में ही उसका भी हित है। भगवान् चाहते हैं कि प्रत्येक जीवात्मा निरन्तर उन्हीं का चिन्तन करे, उनका भक्त बने और सदैव उनकी आराधना करे। *भगवद्गीता* में इसका स्पष्ट उल्लेख हुआ है *मन्मना भव मद्भक्तः*। श्रीकृष्ण की इच्छा है कि सभी उनका ही चिन्तन करें, उन्हीं को सदैव नमस्कार करें। यही भगवान् की इच्छा है और भक्त को इसी की पूर्ति करनी होती है। चूँकि भगवान् अनन्त हैं, अतः उनकी इच्छा भी असीम है। इसमें कोई बन्धन नहीं है, इसीलिए भक्त की सेवा भी असीम है। दिव्यलोक में भगवान् तथा दास के बीच असीम स्पर्धा है। भगवान् चाहते हैं उनकी असीम इच्छाएँ पूर्ण हों और भक्त भी उनकी असीम इच्छाओं को पूरा करने के लिए सेवा करता रहता है। भगवान् तथा उनके भक्त के हित में अपार सामञ्जस्य (एकरूपता) है।

सहाहं स्वांशकलया त्वद्वीर्येण महामुने ।

तव क्षेत्रे देवहृत्यां प्रणेष्ये तत्त्वसंहिताम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

सह—साथ; अहम्—मैं; स्व-अंश-कलया—अपने स्वांश से; त्वत्-वीर्येण—तुम्हारे वीर्य से; महा-मुने—हे ऋषि; तव क्षेत्रे—तुम्हारी पत्नी; देवहृत्याम्—देवहूति में; प्रणेष्ये—उपदेश दूँगा; तत्त्व—परम तत्त्वों का; संहिताम्—संहिता, शास्त्र।

हे ऋषि, मैं तुम्हारी नवों कन्याओं सहित तुम्हारी पत्नी देवहूति के माध्यम से अपने

स्वांश को प्रकट करूँगा और उसे उस दर्शनशास्त्र (सांख्य दर्शन) का उपदेश दूँगा जो परम तत्त्वों या श्रेणियों से सम्बद्ध है।

तात्पर्य : यहाँ पर आगत शब्द *स्वांश-कला* सूचित करता है कि भगवान् देवहूति तथा कर्दम के पुत्र कपिलदेव के रूप में प्रकट होंगे जो सांख्य दर्शन के पहले संस्थापक हैं जिसे यहाँ *तत्त्व-संहिता* कहा गया है। भगवान् ने कर्दम मुनि को पहले ही बता दिया कि वे कपिलदेव के रूप में अवतार लेंगे और सांख्य दर्शन का प्रचार करेंगे। भगवान् ने सांख्य की स्थापना की, यह उस सांख्य दर्शन से भिन्न है, जिसे एक अन्य कपिलदेव द्वारा स्थापित बताया जाता है। सांख्य दर्शन दो प्रकार का है एक तो ईश्वरविहीन सांख्य दर्शन और दूसरा ईश्वरमय सांख्य दर्शन। देवहूति के पुत्र कपिलदेव ने जिस सांख्य का प्रचार किया वह ईश्वरमय दर्शन है।

भगवान् का अनेक प्रकार से प्राकट्य होता है। वह एक है, किन्तु वह अनेक हो गया है। वह अपने को दो भिन्न विस्तारों में विभाजित कर लेता है 'कला' तथा 'विभिन्नांश'। सामान्य जीवात्माएँ 'विभिन्नांश' विस्तार कहलाती हैं, किन्तु *विष्णु-तत्त्व* के अनन्त विस्तार यथा वामन, गोविन्द, नारायण, प्रद्युम्न, वासुदेव तथा अनन्त 'स्वांश-कला' कहलाते हैं। 'स्वांश' का अर्थ प्रत्यक्ष विस्तार है और 'कला' आदि भगवान् के विस्तार से विस्तार का द्योतक है। बलदेव श्रीकृष्ण के विस्तार हैं और बलदेव के अगले विस्तार संकर्षण हैं। इस प्रकार संकर्षण 'कला' हैं जबकि बलदेव 'स्वांश' हैं। किन्तु इनमें कोई अन्तर नहीं है। *ब्रह्म-संहिता* (५.४६) में इसकी बड़ी सुन्दर व्याख्या हुई है *दीपार्चिरेव हि दशान्तरम् अभ्युपेत्य*। एक दीपक से दूसरा और दूसरे से तीसरा इस प्रकार हजारों दीप जलाये जा सकते हैं, किन्तु प्रकाश फैलाने के मामले में इनमें से कोई किसी से घटकर नहीं है। प्रत्येक दीपक में पूर्ण प्रकाश क्षमता निहित है, किन्तु फिर भी इतना अन्तर तो है ही कि यह प्रथम दीप है, यह दूसरा या तीसरा और चौथा इत्यादि। इसी प्रकार भगवान् के *स्वांश* और *कला* में कोई अन्तर नहीं होता। चूँकि भगवान् परम पूर्ण हैं अतः भगवान् के नामों को ठीक उसी रूप में समझा जाता है और उनका नाम, रूप, लीलाएँ, सामग्रियाँ तथा उनके गुण इन सबों में एक ही शक्ति है। परम जगत में श्रीकृष्ण

नाम भगवान् की दिव्य ध्वनि का प्रतीक है। उनके गुण, नाम, रूप इत्यादि में कोई संभाव्य (शक्य) अन्तर नहीं है। यदि हम हरे कृष्ण नाम का जप करते हैं, तो इसमें उतनी ही शक्ति रहती है जितनी कि स्वयं भगवान् में है। हम जिस रूप में भगवान् की पूजा करते हैं और मन्दिर में भगवान् का जो रूप होता है, उन दोनों में कोई संभाव्य अन्तर नहीं होता। मनुष्य को चाहिए कि वह यह न सोचे कि कोई भगवान् की मूर्ति या खिलौने की पूजा कर रहा है, भले ही दूसरे लोग उसे मूर्ति मानें। चूँकि इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है, अतः भगवान् की मूर्ति तथा स्वयं भगवान् की पूजा करने का फल समान मिलता है। यही कृष्णभावनामृत का विज्ञान है।

मैत्रेय उवाच

एवं तमनुभाष्याथ भगवान्प्रत्यगक्षजः ।

जगाम बिन्दुसरसः सरस्वत्या परिश्रितात् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; एवम्—इस प्रकार; तम्—उसको; अनुभाष्य—सम्भाषण करके; अथ—तब; भगवान्—भगवान्; प्रत्यक्—प्रत्यक्ष; अक्ष—इन्द्रियों से; जः—जो देखा जाता है; जगाम—चला गया; बिन्दु-सरसः—बिन्दु सरोवर से; सरस्वत्या—सरस्वती नदी से; परिश्रितात्—घिरा हुआ।

मैत्रेय ने आगे कहा इस प्रकार कर्दम मुनि से बातें करने के बाद, इन्द्रियों के कृष्ण-भावनामृत में लीन रहने पर प्रकट होने वाले भगवान् उस बिन्दु नामक सरोवर से, जो सरस्वती नदी के द्वारा चारों ओर से घिरा हुआ था, अपने लोक को चले गये।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् को प्रत्यग्-अक्षज कहा गया है। यद्यपि वे भौतिक इन्द्रियों से नहीं दिखाई पड़ते तो भी वे देखे जा सकते हैं; यह विरोधाभास लगता है। हमारे पास भौतिक इन्द्रियाँ ही हैं, तो फिर हम भगवान् को कैसे देखें? वे अधोक्षज कहलाते हैं, जिसका अर्थ है कि वे भौतिक इन्द्रियों से नहीं देखे जा सकते। अक्षज का अर्थ है, “भौतिक इन्द्रियों द्वारा दृश्य ज्ञान।” चूँकि भगवान् हमारी इन्द्रियों की कल्पनाशक्ति से नहीं देखे जा सकते, अतः वे अजित भी कहलाते हैं, वे तो जीत सकते हैं, किन्तु उन्हें कोई नहीं जीत पाएगा। तो फिर यह क्या कि इतने पर भी वे देखे जा सकते हैं? यह व्याख्या की जाती है कि श्रीकृष्ण के दिव्य नाम को न

तो कोई सुन सकता है, न उनके दिव्य रूप को कोई समझ सकता है और न उनकी दिव्य लीलाओं को कोई आत्मसात् कर सकता है। यह सम्भव नहीं है। तो यह कैसे सम्भव है कि वे देखे या समझे जा सकते हैं? जब मनुष्य भक्तिमय सेवा में प्रशिक्षित होता है और भगवान् की सेवा करता रहता है, तो उसकी इन्द्रियाँ क्रमशः भौतिक कल्मष से परि-शुद्ध हो जाती हैं। जब इस प्रकार इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं तभी मनुष्य उन्हें देख सकता है, समझ सकता है, सुन सकता है। यहाँ पर प्रयुक्त एक ही शब्द प्रत्यग्-अक्षज में भौतिक इन्द्रियों की शुद्धता तथा श्रीकृष्ण के दिव्य रूप, गुण, नाम का बोध समाए हुए हैं।

निरीक्षतस्तस्य यथावशेष-

सिद्धेश्वराभिष्टुतसिद्धमार्गः ।

आकर्णयन्पत्ररथेन्द्रपक्षै-

रुच्चारितं स्तोममुदीर्णसाम ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

निरीक्षतः तस्य—उसके देखते देखते; ययो—वे चले गये; अशेष—समस्त; सिद्ध-ईश्वर—मुक्त जीवों से; अभिष्टुत—प्रशंसित; सिद्ध-मार्गः—वैकुण्ठ लोक का रास्ता; आकर्णयन्—सुनते हुए; पत्र-रथ-इन्द्र—गरुड़ (पक्षिराज) के; पक्षैः—पंखों से; उच्चारितम्—निकलने वाले; स्तोमम्—स्तुति; उदीर्ण-साम—सामवेद की आधारस्वरूप।

खड़े हुए कर्दम मुनि के देखते-देखते भगवान्, वैकुण्ठ जानेवाले मार्ग से प्रस्थान कर गये, जिस मार्ग की प्रशंसा सभी महान् मुक्त आत्माएँ करती हैं। मुनि खड़े-खड़े, भगवान् के वाहन गरुड़ के फड़फड़ाते पंखों से गुंजादित, सामवेद के मंगलाचरण जैसे लगने वाली ध्वनि को सुनते रह गये।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य में बताया गया है कि भगवान् को सर्वत्र ले जाने वाले दिव्य पक्षी गरुड़ के दोनों पंख सामवेद के दो विभाग हैं, जिन्हें बृहत् तथा रथान्तर कहा जाता है। चूँकि गरुड़ भगवान् के वाहक का कार्य करता है, अतः उसे समस्त वाहनों का दिव्य राजकुमार कहा जाता है। गरुड़ ने अपने दोनों पंखों से सामवेद गुंजरित करना प्रारम्भ कर दिया, जिसका गायन बड़े-बड़े साधु-सन्त भगवान् को शान्त करने के लिए करते हैं। भगवान् की पूजा ब्रह्मा, शिव, गरुड़ तथा अन्य देवता चुने हुए श्लोकों से करते हैं, किन्तु बड़े-बड़े साधु (ऋषि) वैदिक साहित्य के यथा उपनिषदों तथा सामवेद के स्तोत्रों से उनकी पूजा करते हैं। ये ही सामवेद की

ध्वनियाँ भक्त को सुनाई पड़ती हैं, जब भगवान् के अन्य महान् भक्त गरुड़ अपने पंख को फड़फड़ाता है।

यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि कर्दम मुनि उस मार्ग को देखने लगे जिससे होकर भगवान् वैकुण्ठ ले जाये जा रहे थे। इस प्रकार इसकी पुष्टि होती है कि भगवान् अपने धाम वैकुण्ठ से, जो दिव्य आकाश में है, उतरते हैं और गरुड़ उन्हें ले जाता है। सामान्य श्रेणी के दिव्य ज्ञानी वैकुण्ठ को जाने वाले मार्ग की पूजा नहीं करते। जो पहले से भव-बंधन से मुक्त हैं, वे ही भगवान् के भक्त हो सकते हैं और जो भव-बंधन से मुक्त नहीं हुए हैं, वे दिव्य भक्ति को नहीं समझ सकते। *भगवद्गीता* में स्पष्ट उल्लेख है *यततामपि सिद्धानाम्*। ऐसे अनेक लोग हैं, जो भव-बंधन से मुक्त होकर सिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं और जो सचमुच मुक्त हो जाते हैं, वे ब्रह्मभूत या सिद्ध कहलाते हैं। केवल सिद्ध ही भक्त बन सकते हैं। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि हुई है, जो कृष्ण-भावनामृत अथवा भक्ति-योग में संलग्न है, वह भौतिक प्रकृतिक गुणों के प्रभाव से पहले ही मुक्त हुआ रहता है। यहाँ इसकी भी पुष्टि होती है कि मुक्त पुरुष ही भक्ति-मार्ग की पूजा करते हैं, बद्धजीव नहीं। बद्धजीव भगवान् की भक्ति को नहीं समझ पाते। कर्दम मुनि मुक्त जीव थे, जिन्होंने भगवान् का साक्षात् दर्शन किया था। उनके मुक्त होने में कोई सन्देह नहीं था, अतः वे गरुड़ को भगवान् सहित वैकुण्ठ जाते देख सकने में समर्थ थे और गरुड़ के पंखों से सामवेद के सार 'हरे कृष्ण' की ध्वनि को निकलते हुए सुन सकते थे।

अथ सम्प्रस्थिते शुक्ले कर्दमो भगवानृषिः ।

आस्ते स्म बिन्दुसरसि तं कालं प्रतिपालयन् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; सम्प्रस्थिते शुक्ले—भगवान् के चले जाने पर; कर्दमः—कर्दम मुनि ने; भगवान्—परम शक्तिमान्; ऋषिः—ऋषि; आस्ते स्म—रहते रहे; बिन्दु-सरसि—बिन्दु सरोवर के तट पर; तम्—उस; कालम्—समय; प्रतिपालयन्—प्रतीक्षा करते हुए।

तब भगवान् के चले जाने पर पूज्य साधु कर्दम भगवान् द्वारा बताये उस समय की प्रतीक्षा करते हुए बिन्दु सरोवर के तट पर ही ठहरे रहे।

मनुः स्यन्दनमास्थाय शातकौम्भपरिच्छदम् ।
आरोप्य स्वां दुहितरं सभार्यः पर्यटन्महीम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

मनुः—स्वायंभुव मनु; स्यन्दनम्—रथ; आस्थाय—चढ़कर; शातकौम्भ—स्वर्ण रचित; परिच्छदम्—बाहरी खोल;
आरोप्य—बिठाकर; स्वाम्—अपनी; दुहितरम्—पुत्री; स-भार्यः—अपनी पत्नी के साथ-साथ; पर्यटन्—सर्वत्र घूमते
हुए; महीम्—पृथ्वी मण्डल में।

स्वायंभुव मनु अपनी पत्नी सहित स्वर्णाभूषणों से सुसज्जित अपने रथ पर आरूढ़
हुए। अपनी पुत्री को भी उस पर चढ़ाकर वे समस्त भूमण्डल का भ्रमण करने लगे।

तात्पर्य : विश्व के सम्राट मनु चाहते तो अपनी पुत्री के लिए उपयुक्त पति की खोज के
लिए कोई दूत नियुक्त कर सकते थे, किन्तु वे अपनी कन्या को, जैसे एक पिता को चाहिए,
प्यार करते थे, अतः उसके लिए वर की तलाश करने केवल अपनी पत्नी सहित स्वर्णिम रथ
पर आरूढ़ होकर अपने राज्य से रवाना हुए।

तस्मिन्सुधन्वन्नहनि भगवान्यत्समादिशत् ।
उपायादाश्रमपदं मुनेः शान्त्रतस्य तत् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस पर; सु-धन्वन्—हे परम धनुर्धर विदुर; अहनि—दिन में; भगवान्—श्रीभगवान्; यत्—जो;
समादिशत्—भविष्यवाणी की; उपायात्—पहुँच गया; आश्रम-पदम्—पवित्र कुटी में; मुनेः—मुनि की; शान्त्र—
पूर्ण; व्रतस्य—जिसका तपस्या का व्रत; तत्—वह।

हे विदुर, वे मुनि की कुटी में पहुँचे, जिसने अपनी तपस्या का व्रत भगवान् द्वारा
पहले से बताये गये दिन ही समाप्त किया था।

यस्मिन्भगवतो नेत्रात्र्यपतन्नश्रुबिन्दवः ।
कृपया सम्परीतस्य प्रपन्नेऽर्पितया भृशम् ॥ ३८ ॥
तद्वै बिन्दुसरो नाम सरस्वत्या परिप्लुतम् ।
पुण्यं शिवामृतजलं महर्षिगणसेवितम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; भगवतः—भगवान् के; नेत्रात्—नेत्र से; न्यपतन्—गिरे हुए; अश्रु-बिन्दवः—आँसू की बूँदें;
कृपया—दया से; सम्परीतस्य—अभिभूत होने वाला; प्रपन्ने—शरणागत (कर्दम); अर्पितया—चढ़ाया गया;
भृशम्—अत्यधिक; तत्—वह; वै—निस्सन्देह; बिन्दु-सरः—अश्रुओं का सरोवर; नाम—नामक; सरस्वत्या—
सरस्वती नदी से; परिप्लुतम्—उमड़ कर बहता हुआ; पुण्यम्—पवित्र; शिव—मंगलदायक; अमृत—अमृत; जलम्—
जल; महा-ऋषि—परम साधु के; गण—समूह द्वारा; सेवितम्—सेवित।

सरस्वती नदी के बाढ़-जल से भरने वाले पवित्र बिन्दु सरोवर का सेवन ऋषियों का

समूह करता था। इसका पवित्र जल न केवल कल्याणकारी था वरन् अमृत के समान मीठा भी था। यह बिन्दु सरोवर कहलाता था, क्योंकि यहीं पर, जब भगवान् शरणागत ऋषि पर दयार्द्र हो उठे थे, उनके नेत्रों से आँसुओं की बूँदें गिरी थीं।

तात्पर्य : कर्दम मुनि ने भगवान् की अहैतुकी कृपा प्राप्त करने के उद्देश्य से तपस्या की थी और जब भगवान् वहाँ पहुँचे तो वे इतने दयार्द्र हो उठे कि प्रसन्नता वश उनके नेत्रों से आँसू टपक पड़े जिनसे बिन्दु सरोवर बन गया। अतः बिन्दु सरोवर को बड़े-बड़े साधु तथा विद्वान् पूजते हैं, क्योंकि परम सत्य के दर्शनशास्त्र के अनुसार भगवान् और उनके नेत्रों के आँसू अभिन्न हैं। जिस प्रकार भगवान् के पाँव के अँगूठे का पसीना पवित्र गंगा नदी बन गया था, उसी प्रकार भगवान् के दिव्य नेत्रों से गिरे आँसू बिन्दु-सरोवर बन गया। ये दोनों ही दिव्य हैं जिनकी महान् साधु तथा विद्वान् पूजा करते हैं। यहाँ पर बिन्दु सरोवर के जल को शिवामृत जल कहा गया है। शिव का अर्थ होता है “चंगा करने वाला।” जो कोई भी बिन्दु सरोवर के जल को पीता है उसके सारे रोग दूर हो जाते हैं; इसी प्रकार जो कोई भी गंगाजल में स्नान करता है उसके सारे भव-रोग जाते रहते हैं। ऐसे दावों को बड़े-बड़े विद्वानों तथा प्रामाणिक पुरुषों ने स्वीकार किया है और आज इस कलियुग में भी लोग ऐसा करते हैं।

पुण्यद्रुमलताजालैः कूजत्पुण्यमृगद्विजैः ।

सर्वर्तुफलपुष्पाढ्यं वनराजिश्रियान्वितम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

पुण्य—पवित्र; द्रुम—वृक्षों का; लता—बेलों के; जालैः—समूहों से; कूजत्—बोलते हुए; पुण्य—पवित्र; मृग—पशु; द्विजैः—पक्षियों के द्वारा; सर्व—समस्त; ऋतु—ऋतुओं में; फल—फलों से; पुष्प—फूलों से; आढ्यम्—सम्पन्न; वन-राजि—वृक्षों के कुंजों की; श्रिया—सुन्दरता से; अन्वितम्—सुशोभित।

सरोवर के तट पवित्र वृक्षों तथा लताओं के समूहों से घिरे थे, जो सभी ऋतुओं में फलों तथा फूलों से लदे रहते थे और जिनमें पवित्र पशु तथा पक्षी अपना-अपना बसेरा बनाते थे और विविध प्रकार से कूजन करते थे। यह स्थान वृक्षों के कुंजों की शोभा से विभूषित था।

तात्पर्य : यह बताया गया है कि बिन्दु सरोवर पवित्र वृक्षों तथा पक्षियों से घिरा रहता था।

जिस प्रकार मानव समाज में कुछ पुण्यात्मा तथा कुछ पापी लोग होते हैं उसी प्रकार वृक्षों तथा पक्षियों में भी कुछ पवित्र थे और कुछ अपवित्र। जिन वृक्षों में अच्छे फल या फूल नहीं लगते वे अपवित्र माने जाते हैं और जो पक्षी शैतान होते हैं, जैसे कौवे, वे अपवित्र माने जाते हैं। बिन्दु सरोवर के चारों ओर की भूमि में एक भी अपवित्र पक्षी या वृक्ष नहीं था। प्रत्येक वृक्ष फलित तथा पुष्पित था और प्रत्येक पक्षी प्रभु के गुणों का हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे; हरे राम, हरे राम, राम राम हरे हरे का गान करने वाला था।

मत्तद्विजगणैर्घृष्टं मत्तभ्रमरविभ्रमम् ।

मत्तबर्हिंनटाटोपमाह्वयन्मत्तकोकिलम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

मत्त—प्रसन्नता से मतवाले; द्विज—पक्षियों के; गणैः—समूहों से; घृष्टम्—प्रतिध्वनित; मत्त—मतवाले; भ्रमर—भौरों का; विभ्रमम्—मँडराते हुए; मत्त—मतवाले; बर्हिं—मोरों का; नट—नर्तकों का; आटोपम्—गर्व; आह्वयत्—एक दूसरे को बुलाते हुए; मत्त—प्रसन्न; कोकिलम्—कोयलें।

यह प्रदेश मतवाले पक्षियों के स्वर से प्रतिध्वनित था। मतवाले भौरै मँडरा रहे थे, प्रमत्त मोर गर्व से नाच रहे थे और प्रमुदित कोयलें एक दूसरे को पुकार रही थीं।

तात्पर्य : यहाँ पर बिन्दु-सरोवर के चारों ओर के क्षेत्र में सुनाई पड़ने वाली मधुर ध्वनियों की सुन्दरता का वर्णन है। मधु पीकर काले भौरै मतवाले हो रहे थे और मादकता में गुनगुना रहे थे। प्रमुदित मोर नटों तथा नटियों की तरह नाच रहे थे और प्रमुदित कोयलें अपने जोड़ीदारों को पुकार रही थीं।

कदम्बचम्पकाशोककरञ्जबकुलासनैः ।

कुन्दमन्दारकुटजैश्चूतपोतैरलङ्कितम् ॥ ४२ ॥

कारण्डवैः प्लवैर्हंसैः कुररैर्जलकुक्कुटैः ।

सारसैश्चक्रवाकैश्च चकोरैर्वल्गु कूजितम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

कदम्ब—कदम्ब के फूल; चम्पक—चम्पा के फूल; अशोक—अशोक के फूल; करञ्ज—करञ्ज पुष्प; बकुल—बकुल पुष्पा; आसनैः—आसन वृक्षों से; कुन्द—कुन्द; मन्दार—मन्दार; कुटजैः—तथा कुटज वृक्षों से; चूत-पोतैः—नव आम्र वृक्षों से; अलङ्कितम्—सुशोभित; कारण्डवैः—कारण्डव, बत्तख पक्षी से; प्लवैः—प्लवों से; हंसैः—हंसों से; कुररैः—कुररी पक्षी से; जल-कुक्कुटैः—जल कुक्कुट से; सारसैः—सारसों से; चक्रवाकैः—चक्रवाक (चकई-

चक्रवा) पक्षियों से; च—तथा; चक्रौरैः—चक्रोर नामक पक्षियों से; बल्गु—मनोहर; कूजितम्—पक्षियों का कलरव।

बिन्दु-सरोवर कदम्ब, चम्पक, अशोक, करंज, बकुल, आसन, कुन्द, मन्दार, कुटज तथा नव-आम्र के पुष्पित वृक्षों से सुशोभित था। वायु कारण्डव, प्लव, हंस, कुररी, जलपक्षी, सारस, चक्रवाक तथा चक्रोर के कलरव से गुँजायमान थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में वर्णित सभी वृक्ष परम पवित्र हैं और उनमें से कई से, यथा चम्पक, कदम्ब तथा बकुल से अत्यन्त सुहावने पुष्प निकलते हैं। जलमुर्गी तथा सारस के मधुर स्वर से चारों ओर का प्रदेश अत्यन्त सुहावना लग रहा था और एक अति उपयुक्त आध्यात्मिक वातावरण की उत्पत्ति हो रही थी।

तथैव हरिणैः क्रोडैः श्वाविद्गवयकुञ्जरैः ।

गोपुच्छैर्हरिभिर्मकैर्नकुलैर्नाभिभिर्वृतम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

तथा एव—उसी प्रकार; हरिणैः—हिरनों से; क्रोडैः—सुअरों से; श्वावित्—साही; गवय—नील गाय; कुञ्जरैः—हाथियों से; गोपुच्छैः—लंगूरों से; हरिभिः—सिंहों से; मकैः—बन्दरों से; नकुलैः—नेवलों से; नाभिभिः—कस्तूरी मृग से; वृतम्—घिरा हुआ।

इसके तटों पर हिरन, सूकर, साही, नीलगाय, हाथी, लंगूर, शेर, बन्दर, नेवला तथा कस्तूरी मृगों की बहुलता थी।

तात्पर्य : कस्तूरी मृग सभी स्थानों पर नहीं मिलता, वह केवल बिन्दु-सरोवर जैसे स्थानों में ही पाया जाता है। ये अपनी नाभि में निकलती कस्तूरी की गन्ध से सैदव उन्मत्त रहते हैं। गवय अर्थात् नीलगायों की पूँछ में बालों का गुच्छा होता है। इन बाल के गुच्छों को मन्दिरों में पूजा के लिए मूर्तियों पर पंखा झलने के काम में लाया जाता है। कभी-कभी गवय को चमरी भी कहा जाता है, वे अत्यन्त पवित्र मानी जाती हैं। आज भी भारत में अनेक बनजारे हैं, जो कस्तूरी तथा चमरी के बालों का व्यापार करते हैं। उच्च श्रेणी के हिन्दुओं में इनकी अत्यधिक माँग है और आज भी भारत के बड़े-बड़े शहरों तथा गावों में यह व्यापार चलता है।

प्रविश्य तत्तीर्थवरमादिराजः सहात्मजः

ददर्श मुनिमासीनं तस्मिन्हृतहुताशनम् ।
 विद्योतमानं वपुषा तपस्युग्रयुजा चिरम् ॥ ४५ ॥
 नातिक्षामं भगवतः स्निग्धापाङ्गावलोकनात् ।
 तद्व्याहतामृतकलापीयूषश्रवणेन च ॥ ४६ ॥
 प्रांशुं पद्मपलाशाक्षं जटिलं चीरवाससम् ।
 उपसंश्रित्य मलिनं यथार्हणमसंस्कृतम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

प्रविश्य—प्रवेश करने पर; तत्—उस; तीर्थ-वरम्—पवित्र स्थलों में श्रेष्ठ; आदि-राजः—प्रथम राजा (स्वायंभुव मनु); सह-आत्मजः—अपनी पुत्री के समेत; ददर्श—देखा; मुनिम्—मुनि को; आसीनम्—बैठे हुए; तस्मिन्—उस आश्रम में; हुत—आहुति करते हुए; हुत-अशनम्—पवित्र अग्नि; विद्योतमानम्—परम ज्योतिमान; वपुषा—अपने शरीर से; तपसि—तपस्या में; उग्र—कठिन; युजा—योग में लगे; चिरम्—दीर्घकाल से; न—नहीं; अतिक्षामम्—अत्यन्त दुर्बल; भगवतः—भगवान् की; स्निग्ध—स्नेहिल; अपाङ्ग—तिरछी; अवलोकनात्—चितवन से; तत्—उसका; व्याहृत—शब्दों से; अमृत-कला—चन्द्रमा के समान; पीयूष—अमृत; श्रवणेन—सुनकर; च—तथा; प्रांशुम्—लम्बा; पद्म—कमल-पुष्प; पलाश—पंखुड़ी; अक्षम्—आँखें; जटिलम्—जुड़ा; चीर-वाससम्—चिथड़े वस्त्र धारण किये; उपसंश्रित्य—निकट जाकर; मलिनम्—मलिन, गंदा; यथा—जिस प्रकार; अर्हणम्—मणि; असंस्कृतम्—बिना तराशा हुआ।

उस पवित्र स्थान में आदि राजा स्वायंभुव मनु अपनी पुत्री सहित प्रविष्ट हुए और उन्होंने जाकर देखा कि अभी-अभी पवित्र अग्नि में आहुति देकर वे मुनि अपने आश्रम में आसन लगाए थे। उनका शरीर अत्यन्त आभावान था। यद्यपि वे दीर्घ काल तक कठोर तपस्या में लगे हुए थे, किन्तु वे तनिक भी क्षीण नहीं थे, क्योंकि भगवान् ने उन पर कृपा-कटाक्ष किया था और उन्होंने भगवान् के चन्द्रमा के समान स्निग्ध अमृतमय शब्दों का पान किया था। मुनि लम्बे थे, उनकी आँखें बड़ी-बड़ी थीं मानो कमल-दल हों और उनके सिर पर जटा-जूट था। वे चिथड़े पहने थे। स्वायंभुव मनु उनके पास गये और उन्होंने देखा कि वे धूलधूसरित हैं मानो बिना तराशा हुआ कोई मणि हो।

तात्पर्य : यहाँ पर एक ब्रह्मचारी योगी का कुछ-कुछ वर्णन हुआ है। आत्मिक उन्नति के इच्छुक ब्रह्मचारी का प्रथम कर्तव्य है कि प्रातःकाल हुत-हुतासन करे अर्थात् यज्ञ करके परमेश्वर को आहुति प्रदान करे। ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले कभी भी प्रातःकाल सात या नौ बजे तक सोते नहीं रहते। उन्हें सूर्योदय के पूर्व, कम से कम डेढ़ घंटा पहले उठ जाना चाहिए और आहुति देनी चाहिए अथवा इस युग में वे भगवान् श्रीकृष्ण के पवित्र नाम, हरे कृष्ण का जप कर सकते हैं। जैसाकि भगवान् चैतन्य ने कहा है—*कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव*

गतिरन्यथा—अर्थात् इस कलियुग में भगवान् के पवित्र नाम के जप के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं और कोई विकल्प नहीं और कोई विकल्प नहीं है। ब्रह्मचारी को प्रातःकाल जल्दी उठना चाहिए और सुस्थिर होकर भगवन्नाम का जप करना चाहिए। उस मुनि की आकृति से ही ऐसा लग रहा था कि उसने कठिन तप किया है और ब्रह्मचर्य पालन का यही लक्षण भी है। यदि कोई भिन्न प्रकार से रहता है, तो उसके मुख तथा शरीर में दिखने वाले काम-भाव से यह पता लग जाएगा। *विद्योत्तमानम्* शब्द बताता है कि उसके शरीर में ब्रह्मचारी के लक्षण दिखाई पड़ रहे थे। योग में कठिन तपस्या करने का यही सबसे बड़ा प्रमाण है। शराबी, धूम्रपान करने वाला या इन्द्रियलोलुप व्यक्ति कभी भी योग साधना के लिए उपयुक्त नहीं होता। सामान्य रूप से योगी अत्यन्त दुर्बल दिखते हैं, क्योंकि वे सुविधा सम्पन्न स्थिति में नहीं रहते, किन्तु कर्दम मुनि दुर्बल नहीं थे, क्योंकि उन्हें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के साक्षात् दर्शन हुए थे। यहाँ पर *स्निग्धापाङ्गावलोकनात्* का अर्थ है कि उन्हें भगवान् का साक्षात् दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वे स्वस्थ लग रहे थे, क्योंकि उन्होंने भगवान् के कमल-अधरो से निःसृत अमृतमय शब्दों का सीधे पान किया था। इसी प्रकार जो भगवान् के पवित्र नाम, 'हरे कृष्ण' की दिव्य ध्वनि को सुनता है उसका स्वास्थ्य सुधर जाता है। हमने वास्तव में देखा है कि अनेक ब्रह्मचारी तथा गृहस्थ, जो अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ से जुड़े हैं उनका स्वास्थ्य सुधर गया है और उनके मुखमंडल पर कान्ति आ गई है। जो ब्रह्मचारी आत्मिक उन्नति में लगा रहता है उसके लिए आवश्यक है कि वह अत्यन्त स्वस्थ और तेजवान दिखे। एक मुनि और बिना तराशे गये मणि की तुलना भी अत्यन्त उपयुक्त है। भले ही खान से निकला हुआ मणि बिना पालिश के हो, किन्तु उसकी आभा को कोई रोक नहीं सकता। इसी प्रकार भले ही कर्दम मुनि ने अच्छे वस्त्र धारण नहीं किये थे और उनका शरीर उचित रूप से भी स्वच्छ नहीं था, किन्तु कुल मिलाकर उनकी सूरत मणि तुल्य थी।

अथोटजमुपायातं नृदेवं प्रणतं पुरः ।
सपर्यया पर्यगृह्णात्प्रतिनन्द्यानुरूपया ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; उटजम्—कुटी, आश्रम; उपायातम्—पहुँचकर; नृदेवम्—राजा; प्रणतम्—नतमस्तक; पुरः—सामने; सपर्यया—आदर से; पर्यगृह्णात्—उसका स्वागत किया; प्रतिनन्द्य—सत्कार करके; अनुरूपया—राजा के योग्य।

राजा को अपने आश्रम में आकर प्रणाम करते देखकर उस मुनि ने आशीर्वाद देकर सत्कार किया और यथोचित सम्मान सहित उसका स्वागत किया।

तात्पर्य : सम्राट् स्वायंभुव मनु न केवल कर्दम मुनि की पर्णशाला के निकट गये वरन् उन्होंने उन्हें सादर नमस्कार भी किया। इसी प्रकार मुनि का भी धर्म होता था कि वह जंगल में जाकर आश्रम के पास पहुँचने वाले राजाओं को आशीर्वाद दे।

गृहीतार्हणमासीनं संयतं प्रीणयन्मुनिः ।

स्मरन्भगवदादेशमित्याह श्लक्ष्णया गिरा ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

गृहीत—प्राप्त करके; अर्हणम्—सम्मान; आसीनम्—बैठा हुआ; संयतम्—शान्त; प्रीणयन्—प्रमुदित करता; मुनिः—मुनि; स्मरन्—स्मरण करते हुए; भगवत्—भगवान् की; आदेशम्—आज्ञा; इति—इस प्रकार; आह—बोला; श्लक्ष्णया—मीठी; गिरा—वाणी से।

मुनि से सम्मान पाकर राजा स्वयांभुव मनु बैठ गये और शान्त बने रहे। तब भगवान् की आदेशों का स्मरण करते हुए कर्दम मुनि अपनी मधुर वाणी से राजा को प्रमुदित करते हुए इस प्रकार बोले।

नूनं चङ्क्रमणं देव सतां संरक्षणाय ते ।

वधाय चासतां यस्त्वं हरेः शक्तिर्हि पालिनी ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निश्चय ही; चङ्क्रमणम्—यात्रा; देव—हे भगवान्; सताम्—सज्जनों की; संरक्षणाय—रक्षा के लिए; ते—तुम्हारा; वधाय—मारने के लिए; च—तथा; असताम्—असुरों को; यः—जो पुरुष; त्वम्—तुम; हरेः—श्रीभगवान् की; शक्तिः—शक्ति; हि—चूँकि; पालिनी—रक्षा करते हुए।

हे भगवान्, आपका यह भ्रमण (यात्रा) निश्चित रूप से सज्जनों की रक्षा तथा असुरों के वध के उद्देश्य से सम्पन्न हुआ है, क्योंकि आप श्री हरि की रक्षक-शक्ति से समन्वित हैं।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य से, विशेषतः श्रीमद्भागवत तथा पुराणों जैसे इतिहास ग्रंथों से यह प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में पवित्र राजा पवित्र नागरिकों को रक्षा प्रदान करने और

अपि वत्र लोगों को दण्ड देने या मारने के लिए अपने राज्य का भ्रमण करते थे। कभी-कभी वे आखेट विद्या का अभ्यास करने के उद्देश्य से जंगलों में पशुओं को मारने जाते थे, क्योंकि बिना ऐसे अभ्यास के वे अवांछित तत्त्वों का वध करने में समर्थ नहीं हो पाते थे। क्षत्रियों को इस प्रकार से हिंसा करने की छूट होती थी, क्योंकि अच्छे कार्य के लिए हिंसा करना उनके धर्म का अंग होता था। यहाँ पर दो शब्दों का स्पष्ट उल्लेख है—*वधाय* अर्थात् मारने के प्रयोजनार्थ तथा *असताम्*—अर्थात् अवांछित (दुष्ट) जनों को। राजा की रजक-शक्ति भगवान् की शक्ति मानी जाती है। *भगवद्गीता* (४.८) में भगवान् कहते हैं—*परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्*। भगवान् पुण्यात्माओं की रक्षा करने और असुरों के वध के लिए अवतरित होते हैं। अतः पुण्यात्माओं को शरण देने और दुष्टों या असुरों को वध करने के लिए परमेश्वर से सीधे शक्ति प्राप्त होती है और यह शक्ति राजा या राज्य के मुख्य कार्यकर्ता में निहित होती है। इस युग में ऐसा राज्याध्यक्ष पाना दुर्लभ है, जो दुष्टों को मारने में पटु हो। आधुनिक राज्याध्यक्ष सुन्दर प्रासादों के भीतर बैठे-बैठे निर्दोष व्यक्तियों को अकारण मारने का प्रयत्न करते हैं।

योऽर्केन्द्रगनीन्द्रवायूनां यमधर्मप्रचेतसाम् ।

रूपाणि स्थान आधत्से तस्मै शुक्लाय ते नमः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; अर्क—सूर्य का; इन्दु—चन्द्रमा का; अग्नि—अग्नि, अग्निदेव का; इन्द्र—स्वर्ग के स्वामी, इन्द्र का; वायूनाम्—वायु का; यम—यम का; धर्म—धर्म; प्रचेतसाम्—तथा वरुण का; रूपाणि—रूप; स्थाने—आवश्यकतानुसार; आधत्से—धारण करते हो; तस्मै—उसे; शुक्लाय—भगवान् विष्णु को; ते—तुमको; नमः—नमस्कार।

जब भी आवश्यक होता है, आप सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र, वायु, यम, धर्म, वरुण का अंश धारण करते हैं। आप भगवान् विष्णु के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हैं, अतः आपको सभी प्रकार से नमस्कार है।

तात्पर्य : चूँकि कर्दम मुनि ब्राह्मण थे और स्वायंभुव क्षत्रिय थे, अतः सामाजिक रूप से मुनि के द्वारा राजा को नमस्कार नहीं किया जाना था, क्योंकि उसका स्थान राजा से ऊँचा था। किन्तु मुनि ने स्वायंभुव मनु को नमस्कार किया, क्योंकि राजा तथा सम्राट के रूप में मनु

भगवान् के प्रतिनिधि थे। परम प्रभु भगवान् सदैव सबों के पूज्य हैं चाहे कोई ब्राह्मण हो, क्षत्रिय या शूद्र। भगवान् के प्रतिनिधि रूप में राजा हर एक से सादर नमस्कार किये जाने का पात्र था।

न यदा रथमास्थाय जैत्रं मणिगणार्पितम् ।
विस्फूर्जच्चण्डकोदण्डो रथेन त्रासयन्नघान् ॥ ५२ ॥
स्वसैन्यचरणक्षुण्णं वेपयन्मण्डलं भुवः ।
विकर्षन्बृहतीं सेनां पर्यटस्यंशुमानिव ॥ ५३ ॥
तदैव सेतवः सर्वे वर्णाश्रमनिबन्धनाः ।
भगवद्रचिता राजन्भिद्योरन्वत दस्युभिः ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यदा—जब; रथम्—रथ; आस्थाय—चढ़कर; जैत्रम्—विजयी; मणि—मणियों के; गण—समूह सहित; अर्पितम्—सज्जित; विस्फूर्जत्—टंकार करते; चण्ड—घोर शब्द; कोदण्डः—धनुष; रथेन—ऐसा रथ होने से; त्रासयन्—डराते हुए; अघान्—समस्त अपराधियों को; स्व-सैन्य—अपने सैनिकों के; चरण—पाँव से; क्षुण्णम्—मर्दित, कुचला; वेपयन्—हिलाते हुए; मण्डलम्—गोलक; भुवः—पृथ्वी का; विकर्षन्—पथ प्रदर्शन करते; बृहतीम्—विशाल; सेनाम्—सेना; पर्यटसि—घूम रहा हो; अंशुमान्—चमकीले सूर्य; इव—सदृश; तदा—तब; एव—निश्चय ही; सेतवः—धार्मिक आचार संहिता; सर्वे—सभी; वर्ण—वर्णों (जातियों) की; आश्रम—आश्रमों की; निबन्धनाः—मर्यादा, बन्धन; भगवत्—भगवान् के द्वारा; रचिताः—उत्पन्न; राजन्—हे राजा; भिद्योरन्—तोड़ डाले जाएंगे; बत—हाय; दस्युभिः—बदमाशों के द्वारा।

यदि आप अपने विजयी रत्नजटित रथ पर जिसकी उपस्थिति मात्र से अपराधी भयभीत हो उठते हैं सवार न हों, यदि आप अपने धनुष की प्रचंड टंकार न करें और यदि आप तेजवान सूर्य की भाँति संसार भर में एक विशाल सेना लेकर विचरण न करें जिसके पदाघात से पृथ्वी मंडल हिलने लगती है, तो स्वयं भगवान् द्वारा बनाई गई समस्त वर्णों तथा आश्रमों की व्यवस्था चोरों तथा डाकुओं द्वारा छिन्न-भिन्न हो जाय।

तात्पर्य : उत्तरदायी राजा का धर्म है कि वह मानव समाज की सामाजिक तथा आध्यात्मिक व्यवस्थाओं की रक्षा करे। आध्यात्मिक व्यवस्था चार आश्रमों में बँटी है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास जबकि सामाजिक व्यवस्था कर्म तथा गुण के अनुसार ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों से निर्मित है। भगवद्गीता में कर्म तथा गुण के अनुसार इस सामाजिक व्यवस्था (विभाग) का वर्णन हुआ है। दुर्भाग्यवश उत्तरदायी राजाओं द्वारा समुचित संरक्षण न दिये जाने के कारण सामाजिक तथा आध्यात्मिक आश्रम पद्धति वंशानुगत जाति प्रथा

बन चुकी है। किन्तु यह वास्तविक पद्धति नहीं है। मानव समाज का अभिप्राय ऐसे समाज से होता है, जो आत्मबोध की दिशा में अग्रसर हो। सर्वाधिक उन्नत समाज आर्यों का था। आर्य का अर्थ ही है, जो उन्नति शीत हैं। अतः प्रश्न है कि कौन सा समाज उन्नति पर अग्रसर है? उन्नति का अर्थ वृथा ही भौतिक आवश्यकताओं को उत्पन्न करना और तथाकथित भौतिक सुखों की सारे विश्व में वृद्धि करके मानव शक्ति को अपव्यय करना नहीं है। वास्तविक उन्नति तो आत्मबोध की दिशा में प्रगति है और जिस समुदाय में इस उद्देश्य से कार्य हुआ वह आर्य-सभ्यता कहलाई। इसमें बुद्धिमान पुरुष अर्थात् ब्राह्मण अध्यात्मिक कार्यों में लगे रहते थे, उदाहरणार्थ कर्दम मुनि सम्राट् स्वायंभुव जैसे क्षत्रिय देश का शासन चलाते और आत्मबोध के लिए सभी साधन सुचारू रूप से जुटाते थे। राजा का धर्म है कि वह देश भर में घूम-घूम कर देखे कि राज्य-व्यवस्था ठीक है। वर्णों तथा आश्रमों पर आधारित भारतीय सभ्यता का हास हो गया है, क्योंकि वह विदेशियों पर या जो वर्णाश्रम की सभ्यता का पालन नहीं करते थे उन पर निर्भर रहने लगी। इस प्रकार वर्णाश्रम पद्धति का अब जाति प्रथा में हास हो चुका है।

यहाँ पर चारों वर्णों तथा आश्रमों की संस्था की पुष्टि भगवत् रचित कहकर की गई है, जिसका अर्थ है “श्रीभगवान् द्वारा बनाई गई।” *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि हुई है—*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्*। भगवान् कहते हैं कि चारों वर्ण तथा चारों आश्रम मेरे द्वारा बनाए गए हैं। भगवान् द्वारा सृष्ट कोई भी वस्तु न तो छिपाई जा सकती है और न समाप्त की जा सकती है। वर्णों तथा आश्रमों का विभाग चलता रहेगा चाहे वह अपने मूल रूप में हो या बिगड़े रूप में, किन्तु श्रीभगवान् द्वारा सृष्ट होने से उनको समाप्त नहीं किया जा सकता। वे भगवान् की सृष्टि होने के कारण सूर्य की भाँति बनी रहेंगी। चाहे मेघों आच्छादित हो या निर्मल आकाश में हो, तो सूर्य तो बना ही रहेगा इस प्रकार जब वर्णाश्रम पद्धति का हास हो जाता है, तो यह वंशानुगत जाति प्रथा प्रतीत होने लगती है, किन्तु प्रत्येक समाज में बुद्धिमान, वीर, व्यापारी तथा श्रमिक वर्ग होता है। जब वैदिक नियमों के अनुसार विभिन्न जातियों को सहयोग के लिए नियमित कर लिया जाता है, तो शान्ति और आध्यात्मिक प्रगति होती है। किन्तु जब जाति प्रथा

में घृणा, अविश्वास तथा कुरीतियाँ घर कर जाती हैं, तो पूरी पद्धति का हास होने लगता है और अत्यन्त शोचनीय अवस्था उत्पन्न हो जाती, जिसका यहाँ पर उल्लेख हुआ है। सम्प्रति, सारा विश्व शोचनीय स्थिति को प्राप्त है, क्योंकि नाना प्रकार के स्वार्थ समाये हैं। वर्णाश्रम के चारों वर्गों के हास से ऐसा हुआ है।

अधर्मश्च समेधेत लोलुपैर्व्यङ्गु शैर्नृभिः ।

शयाने त्वयि लोकोऽयं दस्युग्रस्तो विनङ्क्ष्यति ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

अधर्मः—अधर्म, अनाचार; च—तथा; समेधेत—उन्नति करेगा; लोलुपैः—धन के लालची; व्यङ्गु शैः—अनियन्त्रित; नृभिः—मनुष्यों द्वारा; शयाने त्वयि—तुम्हारे लेट जाने पर; लोकः—संसार; अयम्—यह; दस्यु—दुराचारियों के द्वारा; ग्रस्तः—आक्रमण किये जाने पर; विनङ्क्ष्यति—विनष्ट हो जाएगा।

यदि आप संसार की स्थिति के विषय में सोचना छोड़ दें (निश्चिन्त हो जायँ) तो अधर्म बढ़ेगा, क्योंकि धनलोलुप व्यक्ति निर्द्वन्द्व हो जाएँगे। ऐसे दुराचारियों के आक्रमणों से यह संसार विनष्ट हो जाएगा।

तात्पर्य : चूँकि वर्णों तथा आश्रमों के वैज्ञानिक विभाजन का लोप हो रहा है, अतः पूरा विश्व ऐसे अवांछित लोगों से शासित हो रहा है, जो धर्म, राजनीति या समाज-व्यवस्था में तनिक भी शिक्षित नहीं हैं, फलतः यह अत्यन्त शोचनीय स्थिति में है। चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों में विभिन्न वर्ग के लोगों के लिए नियमित प्रशिक्षण सिद्धान्त होते हैं। जिस प्रकार आधुनिक युग में इंजीनियरों, डाक्टरों तथा विद्युतविदों की आवश्यकता पड़ती है और वे विभिन्न वैज्ञानिक संस्थानों में भली भाँति प्रशिक्षित होते हैं उसी प्रकार प्राचीन काल में उच्च सामाजिक वर्णों को, यथा बुद्धिमान वर्ग (ब्राह्मण), शासक वर्ग (क्षत्रिय), वणिक वर्ग (वैश्य) को समुचित प्रशिक्षण मिलता था। *भगवद्गीता* में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों के कार्यों का उल्लेख है। जब ऐसी शिक्षा नहीं दी जाती तो मनुष्य दावा करता है कि चूँकि वह ब्राह्मण या क्षत्रिय कुल में उत्पन्न है इसलिए वह ब्राह्मण या क्षत्रिय है, भले ही वह शूद्रों का सा कार्य क्यों न करता हो। इस प्रकार उच्चजाति का होने का अनुचित दावा वैज्ञानिक सामाजिक व्यवस्था को जाति प्रथा में लाकर पटक देता है, जिससे मूल पद्धति का हास हो जाता है। इस

प्रकार इस समय समाज में दुर्व्यवस्था है और उसमें न शान्ति है, न सम्पन्नता। यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि जब तक बलशाली राजा जागरूक नहीं रहता तब तक अपवित्र तथा अयोग्य व्यक्ति समाज में अमुक पद का दावा करते रहेंगे और सामाजिक व्यवस्था को विनष्ट कर देंगे।

अथापि पृच्छे त्वां वीर यदर्थं त्वमिहागतः ।

तद्वयं निर्व्वलीकेन प्रतिपद्यामहे हृदा ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

अथ अपि—इतने पर भी; पृच्छे—मैं पूछता हूँ; त्वाम्—तुमसे; वीर—हे पराक्रमी राजा; यत्-अर्थम्—प्रयोजन; त्वम्—तुम; इह—यहाँ; आगतः—आये हो; तत्—वह; वयम्—हम सब; निर्व्वलीकेन—बिना हिचक के; प्रतिपद्यामहे—पूरा करेंगे; हृदा—हृदय से।

तो भी, हे पराक्रमी राजा, मैं आपसे यहाँ आने का कारण पूछ रहा हूँ। वह चाहे जो भी हो, हम बिना हिचक के उसको पूरा करेंगे।

तात्पर्य : जब कोई अतिथि अपने मित्र के घर जाता है, तो यह माना जाता है कि उसका कुछ विशेष प्रयोजन है। कर्दम मुनि समझ गये कि स्वायंभुव जैसा महान् राजा, यद्यपि अपने साम्राज्य की स्थिति का निरीक्षण करने के उद्देश्य से निकला था, किन्तु कुटिया में उसका आना किसी विशेष प्रयोजन से हो सकता है। इस प्रकार वे राजा की इच्छा पूरी करने के लिए सन्नद्ध थे। प्राचीन काल में यह प्रथा थी कि मुनिगण राजा के यहाँ जाते थे और राजागण मुनियों की कुटियों में जाया करते थे। प्रत्येक को एक दूसरे के प्रयोजन को पूरा करने में प्रसन्नता होती थी। यह पारस्परिक आदान-प्रदान भक्ति कार्य कहलाता है। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के अन्योन्य सम्बन्ध को बताने वाला एक सुन्दर श्लोक है (क्षत्रं द्विजत्वम्)। क्षत्रम् का अर्थ है 'राजसी जाति', द्विजत्वम् का अर्थ 'ब्राह्मण जाति'। ये दोनों पारस्परिक हित के लिए थे। राजसी जाति समाज में ब्राह्मणों को आध्यात्मिक उन्नति के अनुशीलन के लिए सुरक्षा प्रदान करती थी और ब्राह्मण लोग राजसी जाति को बहुमूल्य शिक्षा प्रदान करते थे कि किस प्रकार राज्य तथा नागरिकों को आत्मसिद्धि के पद तक उठाया जाय।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत "मनु-कर्दम संवाद" नामक इक्कसीवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।